आत्मिक साहचर्य

•

लेखक
डॉ० सर्वेपल्ली राधाकृष्णन्

अनुवादिका
डॉ० ज्ञानवती दरबार
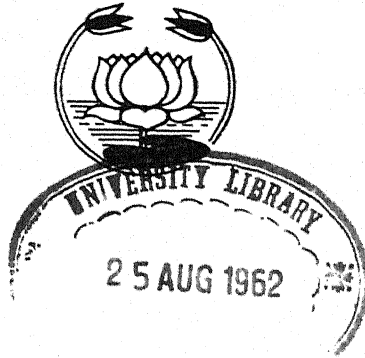
रंजन प्रकाशन : नई दिल्ली

दो शब्द

श्रीमती डा० ज्ञानवती दरबार ने हमारे देश के मूर्धन्य मनीषी और तत्वचिन्तक डा० राधाकृष्णन् की छोटी किन्तु अत्यन्त गंभीर पुस्तिका "फेलोशिप आफ दि स्पिरिट" का हिन्दी अनुवाद किया है। अनुवाद की भाषा सहज है। उसे पढ़ने पर ऐसा नहीं लगता कि कोई अनुवाद पढ़ा जा रहा है, डा० राधाकृष्णन् की भाषा का अनुवाद करना बड़ा कठिन कार्य है। वह जितनी ही प्रवाहपूर्ण होती है, उतनी ही अर्थ-गांभीर्य-युक्त। ज्ञानवती बहन ने उसे हिन्दी पाठकों के योग्य बनाने में बड़ा परिश्रम किया है। उनका यह प्रयास अभिनन्दनीय है।

दिल्ली —हजारीप्रसाद द्विवेदी

२४-११-६१

निवेदन

मैं न कोई दार्शनिक हूं और न तत्वचिंतक। इसलिए डा. सर्वेपल्ली राधाकृष्णन् जैसे महान विश्व-विख्यात दार्शनिक व्यक्ति की पुस्तक का अनुवाद करना कदाचित् मेरी धृष्टता और दुस्साहस ही कहा जा सकता है। ५ सितम्बर, १९६१ को अपने जन्मदिन पर यह पुस्तक उन्होंने पूज्य राजेन्द्रबाबू को भेंट की। स्वभावत: मैंने उसी दिन उन्हें इस पुस्तक के कुछ पृष्ठ पढ़कर सुनाए। पढ़ते-पढ़ते स्वयं मेरी रुचि उस ओर बढ़ती गयी और उसी रुचि ने मुझे यह प्रेरणा दी। किन्तु जैसे-जैसे मैं आगे बढ़ती गयी, गहरे पानी में पैठने का-सा मुझे अनुभव हुआ, और मैं घबरायी भी। श्रद्धा और आस्था ने मुझे साहस प्रदान किया और इसके आदिस्रोत वक्ता की अनुमति तथा आशीर्वाद ने मुझे धीरज और प्रेरणा दी। पूज्य राजेन्द्र बाबू के सहज सान्निध्य व सतत आशीर्वाद ने इस कार्य के लिए मुझे प्रोत्साहित किया। इस पुस्तक का विस्तार भले ही अधिक न हो, इसकी गहराई अथाह है। मैं कहांतक इस प्रयास में सफल हो सकी हूं, स्वयं नहीं जानती। बालक के चलने का-सा मेरा यह प्रयास है, अत: इसमें कुछ त्रुटियां भी रही हों तो मैं विज्ञ पाठकों और विद्वानों से विनम्रतापूर्वक क्षमा चाहती हूं।

मैं विज्ञ-प्रवर श्रद्धेय डा. राधाकृष्णन् के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करती हूं, जिनके कारण मुझे भी इस सद्वचनामृत के पान करने का अवसर मिला।

डा. हजारीप्रसाद द्विवेदी की भी मैं आभारी हूं, जिन्होंने, अत्यधिक व्यस्त होते हुए भी, इसे देखकर, बहुमूल्य सुझाव देकर और 'दो शब्द' लिखकर मेरा उत्साह बढ़ाया।

राष्ट्रपति भवन,
नई दिल्ली
१६-११-६१

—ज्ञानवती दरबार

प्राक्कथन

आत्मिक साहचर्य (Fellowship of the Spirit) पर डा. राधाकृष्णन् का यह भाषण हार्वर्ड यूनिवर्सिटी के सेंडर्स थिएटर में, विश्वधर्मों के नये अध्ययन-केन्द्र के उद्घाटन-समारोह से पहले, एक बड़े जन-समूह के सामने, दिया गया था। भारत से इस अवसर पर विशेष रूप से उनका यहां आना हमारे ऊपर बहुत बड़ा अनुग्रह था। जैसा सभापति के आसन से अध्यक्ष डा. पूसी ने कहा था, इस काय के लिए उनको निमंत्रित करना पूर्णरूप से उचित था।

डा. पूसी ने कहा था—"निस्सन्देह यदि कोई भी ऐसा व्यक्ति है, जो इस विषय पर हमारे सम्मुख बोलने का अधिकारी है, तो वे डा. राधाकृष्णन् ही हैं, जिन्होंने अपना दीर्घजीवन विश्वविद्यालय के कार्य में लगाया है, जिनकी गणना हमारे युग के प्रमुख दार्शनिकों में है और जिन्हें अध्यात्म में रुचि रखनेवाले सभी व्यक्ति भली-भांति जानते हैं। ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में स्पालिंडग प्रोफेसर की हैसियत से उन्होंने विश्वधर्मों के क्षेत्र में अध्ययन और अध्यापन दोनों कार्य किये हैं। इसके बाद से वे यूनेस्को में भारत के प्रतिनिधि, यूनेस्को के सदस्य तथा उसकी कार्य-कारिणी के अध्यक्ष रहे हैं। उन्होंने रूस में भारतीय राजदूत के रूप में अपने देश की सेवा की है और इस समय वे भारतीय गणराज्य के उपराष्ट्रपति हैं। आज यहां उनकी उपस्थिति हमारे लिए गर्व और गौरव का विषय है।

हार्वर्ड विश्वविद्यालय धीरे-धीरे एक अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठान बनता जा रहा है और हमें खुशी है कि हम इस विश्वविद्यालय के डिविनिटी स्कूल के तत्वावधान में विश्व-धर्म-संबंधी यह कार्यक्रम आयोजित कर सके हैं। इस कार्यक्रम का उद्देश्य विभिन्न देशों और संस्कृतियों से सम्बन्धित ऐसे उदीयमान विद्वानों को एक स्थान पर एकत्रित करना है, जो अपने धर्म में पारंगत हों और साथ ही अन्य धर्मों के अनुयायियों के साथ रहकर तथा कार्य करके, उन धर्मों के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने को उत्सुक हों।"

डा. राधाकृष्णन् की पांडुलिपि को प्रकाशनार्थ तैयार करने के कार्य में हमें प्रो. टी. आर. वी. मूर्ति, बनारस और प्रो. टी. के. वेंकटेश्वरन्, मद्रास से जो सहायता मिली, उसके लिए हम उनके अत्यन्त आभारी हैं।

हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस की सहायता तथा सौजन्य के लिए भी हम आभारी हैं।

विश्वधर्म अध्ययन केन्द्र,
हार्वर्ड डिविनिटी स्कूल

आर. एच. एल. स्लेटर
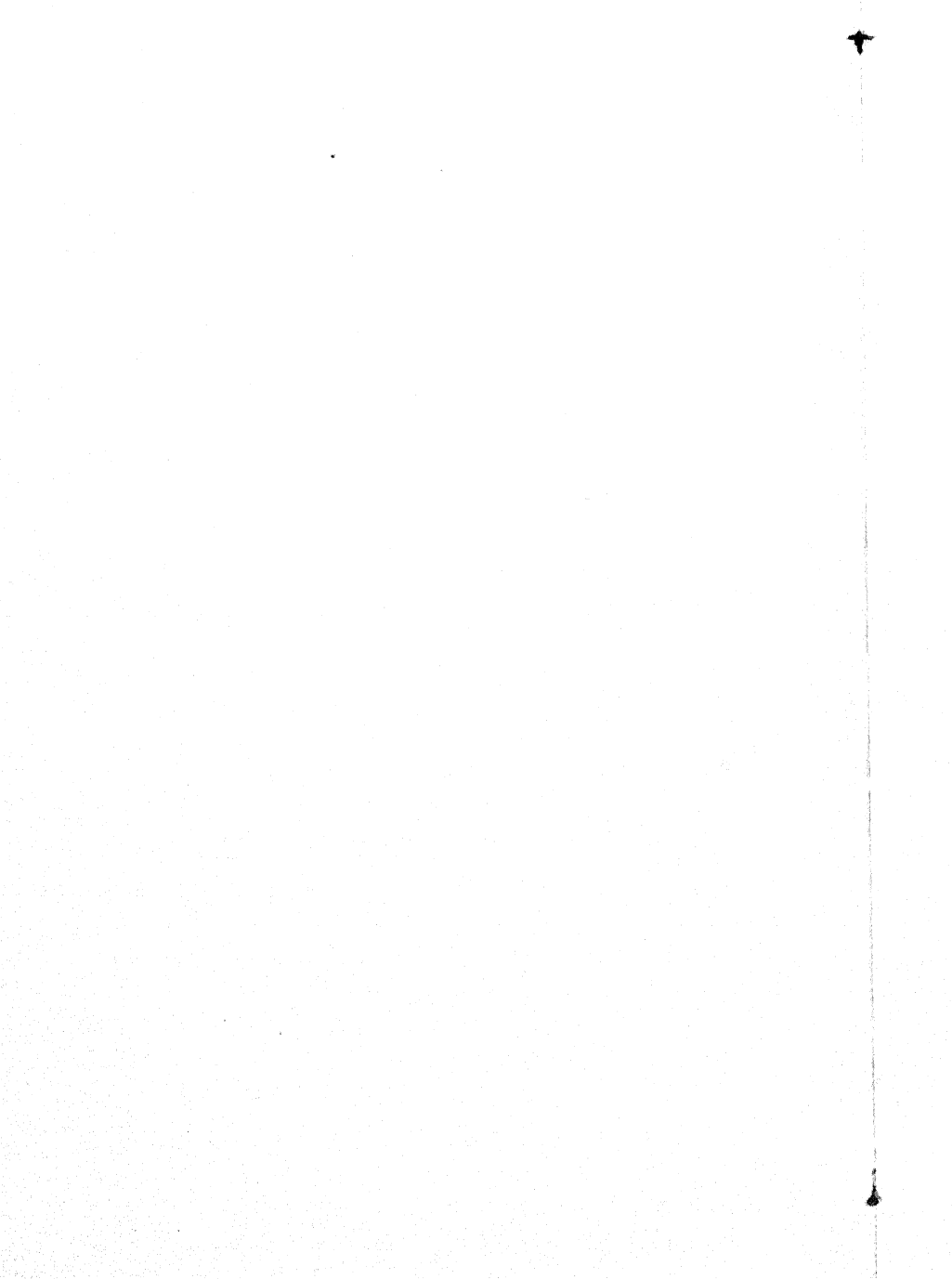
आत्मिक साहचर्य

त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये
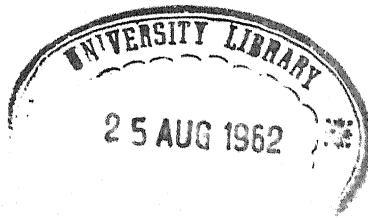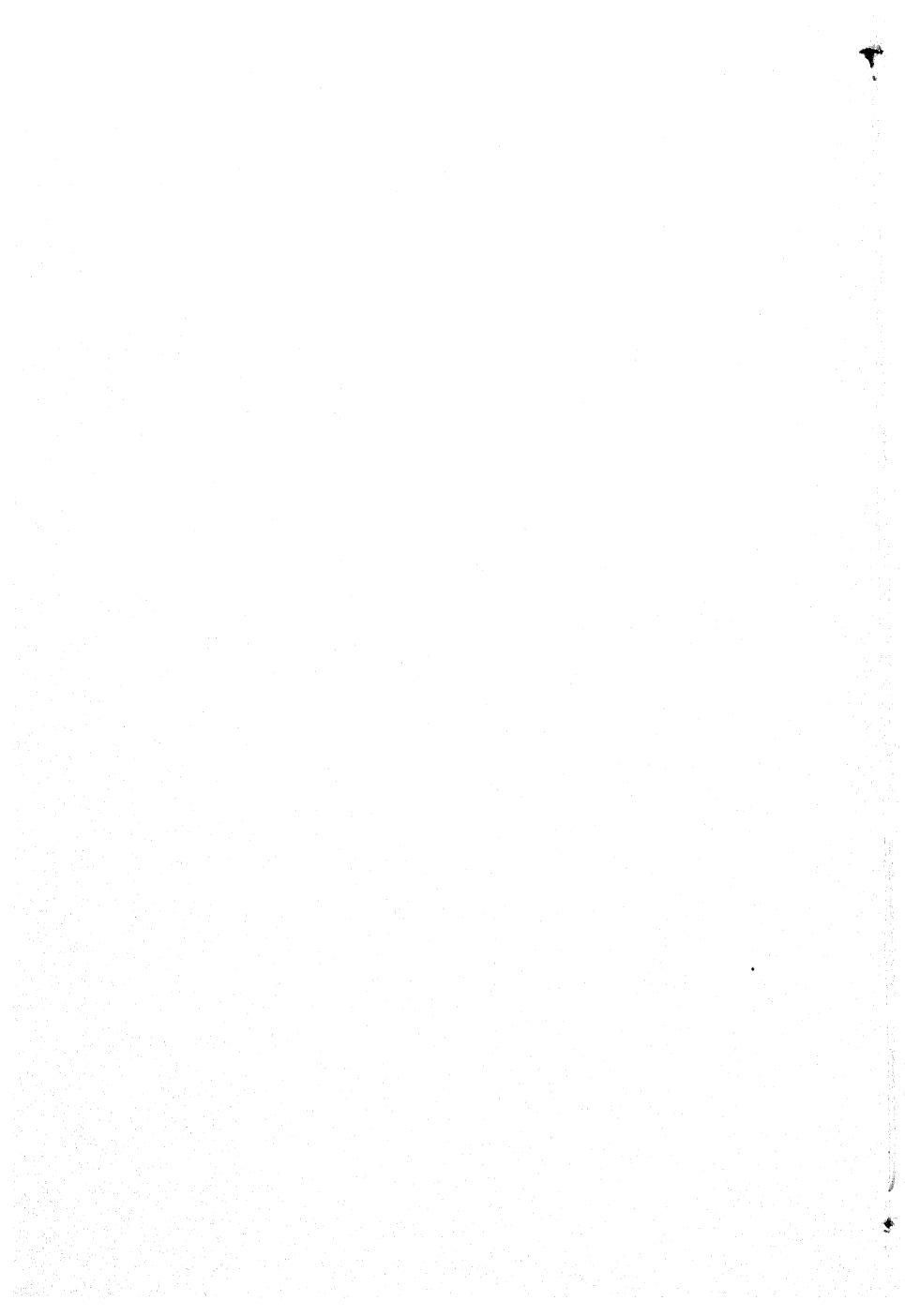
आत्मिक साहचर्य

: १ :

इस महत्वपूर्ण आयोजन में भाग लेने के लिए आमंत्रित किये जाने से और यह अभिभाषण देने का सुअवसर प्राप्त होने से मैं बहुत गौरवान्वित हुआ हूं। यह मेरे देश का गौरव है, जहां अनेक शताब्दियों से समन्वय का उपक्रम चला आ रहा है, जिसके निर्माण में द्रविड़, आर्य, ईरानी, यूनानी, मुसलमान और ईसाई आदि जातियों ने योग दिया है। वहां विभिन्न मतों के अनुयायी, यदा-कदा संघर्ष और वैमनस्य के बावजूद भी, स्वतंत्रता और साहचर्य से रहते हैं।

मुझे ज्ञात हुआ है कि इस प्रतिष्ठान के दाताओं का धार्मिक विचारों के सफल विनिमय में विश्वास है और उन्हें यह आशा है कि इस प्रकार के आदान-प्रदान से हमारा जीवन समृद्ध हो सकता है और आत्मिक साहचर्य का मार्ग प्रशस्त हो सकता है।

गत कुछ दशकों की विज्ञान और तकनीक की आश्चर्यजनक प्रगति ने आर्थिक तथा राजनीतिक व्यवस्था के आधार पर ऐसी समीपता को जन्म दिया है जिससे कोई भी घटना, जो एक जगह घटती है, उसका सभी जगह प्रभाव पड़ता है। इस समीपता को विश्वसमाज का रूप देने के लिए हमें सद्भावना और विभिन्न जातियों के जीवन का निरूपण करनेवाले आधारभूत सिद्धान्तों को समझने की आवश्यकता है। संसार की सभ्यताओं के विकास में धर्म प्रमुख तत्व रहा है।

विश्वविद्यालय एक ज्ञानपीठ है, पूजन का केन्द्र नहीं। इसका ध्येय ज्ञानोपार्जन है, संप्रदाय की स्थापना नहीं। विश्वविद्यालय से सम्बन्धित होने के कारण यह हमारा विशेषाधिकार और गौरव है कि हम सत्य की खोज करें और इसके अन्वेषण में इस भय से हतोत्साह न हों कि परिणाम क्या होगा। पूर्व और पश्चिम के बहुत-से धार्मिक प्रतिष्ठानों

में विद्यार्थी अन्य धर्मों से पूर्णतः अनभिज्ञ रहते हैं; और यदि उनके सम्बन्ध में इन विद्यार्थियों को कुछ बताया भी जाता है तो केवल एक भद्दे उपहास के रूप में। वे कुतर्क और पक्षपात से ओतप्रोत हो जाते हैं। ऐसे अनुशीलन से वे दूसरे धर्मों के गूढ़तत्व को ग्रहण नहीं कर पाते और उनकी आत्मा की घोर उपेक्षा होती है। विभिन्न धर्मों के अनुयायियों को पारस्परिक आदर तथा सहयोग की भावना से एक स्थान पर जुटाकर हम उन धर्मों के सुन्दरतम रूप को समझने में सहायक हो सकते हैं। ऐसे केन्द्र की स्थापना यहां हो, यह इस विश्वविद्यालय की महान परम्पराओं के अनुरूप ही है। जो शिक्षा यहां दी जाती है, वह समकालीनता से विमुख नहीं। उसमें हमारी सभ्यता का समावेश है, जो अतीत पर आश्रित है, किन्तु एक नव-भविष्य की ओर उन्मुख है। सेंट पाल फिलिपिअनों अर्थात् यूरोप के सबसे पहले धर्म-परिवर्तित अनुयायियों को अपने अन्तिम पत्र में, जो उन्होंने अपनी गिरफ्तारी और मुक़दमे के समय लिखा था, यह कहते हैं कि जो प्राप्त हो चुका है उसे भूल जाइये और जो पाना बाकी है उसकी ओर आगे बढ़िये। इसी प्रकार विश्वविद्यालयों का यह कर्त्तव्य है कि वे स्वाधीनता की सीमाओं को केवल अन्तरिक्ष में ही नहीं अपितु मानवीय आत्मा के जगत में भी आगे बढ़ाएं।

: २ :

ऐसे जीव का उदय, जिसमें अपनी आत्मा तथा अपनी परिस्थितियों के मनन की क्षमता हो, सृष्टि के विकास का महान चरण है। मानव वस्तुओं का निर्माता कहलाता है। वह सांचों का निर्माता भी है। जब उसे शीत और क्षुधा पर विजय मिल जाती है और जब उसकी भूख और कामनाएं संतुष्ट हो जाती है, तो वह यह खोज करना चाहता है कि क्या जगत में कोई पूर्व-निश्चित योजना है? जीने का कोई उद्देश्य है? जीवन का कोई ध्येय अथवा अर्थ है? उसे रूपहीनता, बुद्धिहीनता, अनिश्चितता और अव्यवस्था से संतोष नहीं हो सकता।[1]

[1] **ईसा पूर्व चौथी शती का एक चीनी दार्शनिक, चुंग्त्से कहता है—"आनन्द और क्रोध, सुख और दुःख, चिन्ता और भय नित्य परिवर्तनशील चक्र की तरह,**

जब मानव सृष्टि के नश्वर और सीमित गुणों पर विचार करता है तो वह भयभीत हो उठता है, और, हीडगर (Heidegger) के शब्दों में, भय मानव से भी प्राचीनतर है। अपने ग्रन्थ 'ऑन दि इम्प्रूवमेंट ऑफ दि अन्डरस्टैंडिंग' (On the Improvement of the understanding) का आरम्भ स्पिनोज़ा ने इन शब्दों से किया है, "मैंने देखा कि मैं भयंकर संकट के बीच खड़ा था और इसके निराकरण के लिए पूर्ण रूप से बाध्य था, भले ही वह उपाय अनिश्चित हो। मैं एक ऐसे रोगी के समान था, जो एक सांघातिक रोग के चंगुल में हो और उपचार के अभाव में मृत्यु को अनिवार्य मानता हो और जो पूर्ण यत्न से उपचार ढूंढ़ता हो, चाहे वह कितना ही अनिश्चित हो, क्योंकि उसकी सारी अवशेष आशा उसीमें निहित होती है।" मानव पूछता है, क्या यह अंतिम शून्यता ही सब कुछ है अथवा इसके पीछे कोई अर्थ भी है, कोई सार्थकता भी छिपी है ?

पीड़ित प्राणी उपनिषद् के शब्दों में पुकार उठता है—"असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्माऽमृतं गमय।" मानव सृष्टि के चक्र से ऊपर उठ सकता है और यह इस बात का द्योतक है कि उसमें कुछ शाश्वत तत्त्व है। बुद्ध की धारणा है कि कर्मजगत से परे अवश्यमेव मुक्ति और निर्वाण का एक जगत है। ईसाई मत भी इस बात की पुष्टि करता है कि मृत्यु ही अन्त नहीं। "वह पुनर्जीवित हुआ है।" मृत्यु में डंक नहीं होता और कब्र में विजय नहीं होती। हेन्डल (Handel) के 'मसीहा' में हम पढ़ते हैं—"यद्यपि कृमि मेरे शरीर को नष्ट कर देंगे, तथापि मैं अपने पिंड में प्रभु के दर्शन करूंगा॥"

मानव का भय और क्लेश आन्तरिक संघर्ष का परिणाम है। उसका सम्बन्ध दो संसारों से है, आध्यात्मिक और नैसर्गिक। सृष्टि

आकाश के संगीत की तरह अथवा जंगल की घास की तरह अपने बदलते रूपों में हमें आ घेरते हैं। एक दूसरे के बाद दिन-रात वे हमारे अन्दर प्रवेश करते रहते हैं, किन्तु हमें इसका भान भी नहीं होता कि वे कहां से आये। ओ! क्या कभी क्षण भर के लिए भी हम वास्तविक कारण की ओर ध्यान देते हैं ?"

आवश्यक रूप से एक काल-क्रिया है, मानो यह उस्तरे की धार पर खड़ी है, वह धार जो 'अस्ति' को 'नास्ति' से विलग करती है। मानव का नाता 'नास्ति' से जुड़ा है। एक समय था, जब हम नहीं थे। एक समय आएगा, जब हम नहीं होंगे। अस्ति के क्या गुण हैं, नास्ति में क्या रहस्य है, जो ज्ञात सृष्टि पर छाया हुआ है और उसका नियंत्रण करता है? अपने प्रकटीकरण के लिए अस्ति को नास्ति की अपेक्षा है। अपने 'कन्फेशन्स' (Confessions) के प्रथम अध्याय में संट आगस्टिन ने यह प्रश्न किया है कि ईश्वर की प्राप्ति के लिए उसकी उत्कट अभिलाषा का क्या अर्थ है? क्या उसका यह अर्थ है कि उसने ईश्वर को प्राप्त कर लिया है अथवा प्राप्त नहीं किया है? यदि उसने ईश्वर को प्राप्त न किया होता तो उसे ईश्वर के सम्बन्ध में ज्ञान ही न होता; क्योंकि ईश्वर के लिए उसकी उत्कट अभिलाषा का स्रोत ईश्वर ही है। यदि उसने ईश्वर को पा लिया होता और पूर्णरूप से जान लिया होता, तो उसमें उत्कट अभिलाषा की क्षमता न रहती, क्योंकि वह परितुष्ट हो गया होता और संघर्ष करने तथा सहने की शक्ति उसमें न रहती।

मानव दो संसारों के मध्य सेतु सम है। यदि उसका सम्बन्ध एक ही जगत से रहा, तो वह मानवीय गुण खो देगा। दृश्य और अदृश्य के बीच जीवन एक सतत नाटक है। मानव किसी दूसरे संसार की वस्तुओं के रूप में नहीं, बल्कि इसी जगत की अप्राप्त वस्तुओं के रूप में "सत्यं शिवं सुन्दरम्" की आकांक्षा करता है।

मानव-स्वभाव में एक आन्तरिक इच्छा हुआ करती है, जो उसे अनेक प्रकार से किसी ऐसी वस्तु को खोजने के लिए विवश करती है, जिसे वह स्वयं पूर्णरूप से नहीं समझता, यद्यपि उसकी धारणा होती है कि यह सर्वोपरि सत्ता है। जबतक वह इस सत्य को प्राप्त नहीं कर लेता, मानव सुखी नहीं हो सकता।

पूर्णता प्रत्येक जीव का लक्ष्य है—हरी घास का, पुष्पित वृक्ष का, उड़ते हुए पक्षी का और कूदते-फांदते मृग का। जबकि अनु-मानवीय जातियां पूर्वनिश्चित योजना के अनुसार व्यवहार करती हैं, मानव को

बुद्धि और नैतिक पथ-अवलम्बन की शक्ति के कारण सचेतरूप से अपने भविष्य का निर्माण करना होता है। मानव के प्रादुर्भाव के साथ धातुओं, पौधों तथा पशुओं के अनिश्चित विकास का काल समाप्त हो चुका है। अपनी चेतना की गहराइयों में उसे अपनी अपूर्णता का आभास होता है। वह समझता है कि उसे अपनी सफलताओं से और आगे बढ़ना है, उसे आत्मा और स्वाधीनता के अधिक व्यापक जीवन में प्रवेश करना है, उसका अभी भी निर्माण हो रहा है और उसे स्वयं अपना निर्माण करना है। आध्यात्मिक उन्नति को प्राप्त करने के लिए मानव धार्मिक अनुशासन का अनुसरण करता आया है।

ज्ञान की वृद्धि और भौतिक प्रगति के कारण आध्यात्मिक जीवन में रुचि कुछ कम हो गयी है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण, जो आधुनिक मानव के बौद्धिक उपकरण का एक अंग बन गया है, धार्मिक विश्वासों और सिद्धान्तों को मान्यता देना कठिन समझता है। वह समझता है कि ये सिद्धान्त प्राकृतिक सत्य और नैतिक उन्नति के मार्ग में बाधाएं हैं। यदि हम धार्मिक परम्पराओं को अपरिवर्तनीय सत्य के रूप में स्वीकार करते हैं तो श्रद्धा और बुद्धि के बीच हम ऐसी खाई बना देते हैं, जो पाटी नहीं जा सकती।[२] कट्टरपंथी धर्म विचारों के स्वच्छन्द प्रवाह और आत्मा के आन्तरिक जीवन को अवरुद्ध करता है।

तार्किक यथार्थवाद की विचारधारा के अनुसार धार्मिक सत्य सत्य नहीं है, क्योंकि उन्हें अनुभव की कसौटी पर कसा नहीं जा सकता। इसके अतिरिक्त धर्म ने बर्बरता, क्रूरता और अज्ञानता को सहन किया

---

२. इस समस्या का उग्र रूप हमारे सामने मि. ख्रुश्चेव के भाषण में आता है, जो उन्होंने १० नवम्बर १९५४ को अनीश्वरवादी प्रचार की केन्द्रीय समिति के सामने दिया : "आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कार धार्मिक सिद्धान्तों का विश्वसनीय रूप से विरोध करते हैं।" किरसप लेक (Kirsopp Lake) का पिता चिकित्सक था। जब उससे पूछा गया कि वह कौन-सी चीज है, जिसने संसार में मानव को दुःख से सबसे अधिक मुक्त किया है ? उसने उत्तर दिया : "अनिस्थीसिया" (Anaesthesia) और "ईसाई धर्म का क्षय।"

है। जबकि धर्मनिष्ठ लोग यह दावा करते हैं कि वे नैतिक सिद्धान्तों का बन्धन मानते हैं, प्रेम और बन्धुत्व का प्रचार करते हैं, वे युद्ध और नृशंस व्यवहार की अवहेलना भी करते हैं। मानव मानव का घोरतम शत्रु बन गया है। धर्मनिष्ठ लोगों में मानवोद्धार की कोई तत्परता नहीं दिखाई देती। मानव तथा राष्ट्र अच्छे साध्य की प्राप्ति के लिए बुरे साधनों को अपनाते हैं। ईश्वर की वाणी और राष्ट्रीय, जातीय तथा राजनीतिक पागलपन में हम भेदभाव नहीं करते। सौरन कीर्कगार्ड (Soren Kierkegaard) ने कहा है—"हम जो अपने सामने देखते हैं वह ईसाई मत नहीं, एक महान भ्रम है, और लोग विधर्मी नहीं पर इस सुनहले धोखे में हैं कि वे ईसाई हैं।"[3] एक बार लेनिन ने एक बिशप से कहा—"मेरे सामने समस्त ईसाई जगत में से एक भी आदमी ऐसा लाओ, जो आज ऐसे रहता हो जिस प्रकार पाल रहता था, मैं आस्तिक बन जाऊंगा।" बहुत-से लोग केवल इसीलिए धर्म-विमुख हो जाते हैं; क्योंकि उनका जीवन में बहुत-से धार्मिक लोगों से पाला पड़ता है।

यह बहुत दुःख की बात है कि मानव-समाज को पारस्परिक सद्भावना और सदाशयता के एकसूत्र में बांधने की बजाय बड़े धर्म अपने अन्धविश्वासों के कारण विश्व में मानवता के विभाजन का अस्त्र बन गए हैं। वे दृढ़तापूर्वक कहते हैं कि धार्मिक सत्य इस या उस विशेष क्षेत्र में, विशेष जाति को ही उपलब्ध हो सकता है, और अन्य लोग धार्मिक सत्य या तो उसीसे ग्रहण करें अथवा आध्यात्मिकता से वंचित रहें।

धर्मान्धता और कट्टर विश्वासों को धर्म मानकर हमने तथा-कथित धार्मिक मतभेदों के कारण युद्ध किये। ईसा की पवित्र कब्र (Holy Tomb) की प्राप्ति के लिए ईसाइयों ने लहू बहाया, क्रूरता और विश्वासघात से काम लिया। हम उस "प्रैसिबिटेरियन" पंडित से भी परिचित हैं, जिसने एक जस्विट (Jesuit) से विवाद करते हुए

---

३. अटैक अपॉन 'क्रिसेन्डम्', ई. टी. वॉल्टर लारी द्वारा लिखित (१९४४), पृष्ठ ९७

यह तर्क दिया था "हमें अपने मतभेदों को स्वीकार करना चाहिए। हम दोनों एक ही ईश्वर की सेवा करने का यत्न कर रहे हैं, आप अपने तरीके से और मैं ईश्वरीय तरीके से।" यह दृष्टिकोण अभी भी प्रचलित है।

: ३ :

अपनी कथा-कहानियों पर संतोष करके, जो विज्ञान की अवहेलना करते हैं और नैतिक सिद्धान्तों के प्रतिकूल मांगों तथा मानवता की ऐसी आवश्यकताओं की चेतना के कारण धर्म से मुक्त होकर मानव का अहंकारी मन ऐसी शून्यता की प्रतीति करने लगा है, जिसे बढ़ता हुआ ज्ञान और मानवतावाद पूरा नहीं कर पा रहे हैं। धर्म के बन्धनों को तोड़ फेंकने के उतावलेपन में हम एक ऐसी दमनकारी दासता के शिकार बन रहे हैं, जिसे धर्म-निरपेक्ष व्यापक ज्ञान ने हमपर थोपा है। यदि लाखों-करोड़ों लोग आज उन्माद की स्थिति में है, यदि पागलखाने आधे भरे हैं, यदि मानसिक उपचारकों की मांग बढ़ती जा रही है, यदि ऊब उठने की भावना और शमक पदार्थ आज बहुतों के साथी हैं, तो यह इस बात का द्योतक है कि जीवन में आदर्श तथा ध्येय के स्थान पर रिक्तता विराजमान है।[४] हम अपने आन्तरिक और बाह्य जीवन के भेदों पर पार पाने के लिए धर्म के विभिन्न रूपों को अपनाते हैं। इसका कारण स्वाभाविक अकर्मण्यता और अन्धविश्वास है। हम इतने आलसी होते हैं कि आत्म-निरीक्षण

---

४. देखिये सी. जी. युंग. का कथन—"पिछले तीस वर्षों से संसार के समस्त सभ्य देशों के लोगों ने मुझसे परामर्श किया है। मेरे रोगियों में से जीवन के आधे उत्तरकाल में अर्थात् पैंतीस साल से ऊपर एक भी ऐसा नहीं, जिसकी समस्या अन्तिम उपाय के रूप में जीवन में धार्मिक दृष्टिकोण को प्राप्त करने की न रही हो। यह कहना ठीक होगा कि उनमें से प्रत्येक इसलिए बीमार हुआ, क्योंकि उसने वह वस्तु खो दी, जो प्रत्येक युग के जीवित धर्मों ने अपने अनुयायियों को प्रदान की थी और वास्तव में उनमें से कोई भी अपने धार्मिक दृष्टिकोण को पुनः प्राप्त न करने के कारण अच्छा न हो सका।"

—'मॉडर्न मैन इन सर्च ऑफ़ हिज़ सोल' (१९३३)

करने का कष्ट ही नहीं उठाते। इसके मूल में एक प्रकार का उपयोगितावाद भी है, जो धार्मिक संस्थाओं पर अवलम्बन को सामाजिक और राजनीतिक दृष्टि से उपयोगी पाता है। स्थिति का विरोधाभास यह है कि हम ईश्वर की पूजा करते हैं और इसके साथ ही ईश्वर के अस्तित्व में संदेह करते हैं। सब धर्मों के आध्यात्मिक अंग को बाह्य आडम्बर ने दबा दिया है, जिससे हमारा दैनिक जीवन संकीर्ण और तुच्छ बन गया है और हमारी मानवता विभिन्न वर्गों में बंट गयी है। परिणामतः मानव का क्षेत्र अत्यधिक संकुचित हो गया है। हम अद्वैत शक्ति का साक्षात्कार नहीं कर पाते और विभिन्नता के अभिशाप से पीड़ित रहते हैं। सैकड़ों कृत्रिम अवरोधों के कारण विश्वात्मा से हम दूर जा पड़े हैं। हमें जीवन के आध्यात्मिक तत्वों को ग्रहण करना चाहिए, जिनके अभाव में आधुनिक संसार की संस्कृति संकुचित और दोषपूर्ण बन गयी है। हमारी कठिनाइयों का कारण अन्ध श्रद्धा और धर्म की अनुभूति में पारस्परिक उलझन है। जो अन्ध श्रद्धा से संतुष्ट हैं, वे ऊपरी स्तर पर रहते हैं और जीवन-मरण के सर्वोपरि रहस्यों को आत्मसात नहीं करते। धर्म वास्तव में जीवन की गहराइयों की प्रतीति और अनुभूति है।

तार्किक यथार्थवाद और धर्म में परस्पर विरोध नहीं। यद्यपि वह औपचारिक रूप से दर्शन के सत्य को अंगीकार नहीं करता, धर्म समाज और व्यक्ति के सम्बन्ध में अपने ही दार्शनिक विचारों को प्रवेश करा देता है। बहुत-से वैज्ञानिक सिद्धान्त ऐसे हैं, जिनकी सच्चाई को परोक्ष रूप से ही परखा जा सकता है। धार्मिक सिद्धान्त भी अनुभव की समीक्षा हैं, केवल अटकलमात्र नहीं। वैज्ञानिक दार्शनिक यह दावा करते हैं कि वे अनुभव को लेकर चलते हैं और उनके सिद्धान्त दृष्ट तथ्यों के कारणों पर प्रकाश डालते हैं। आध्यात्मिक सत्य को स्थिर किये बिना मानव सृष्टि की प्रक्रिया और इसके विकासक्रम के आधारभूत कारण को नहीं समझ सकता। यह सत्य ऐसा है, जो मानव से कहीं बड़ा है और समस्त सांसारिक प्रक्रिया को एक सूत्र में बांधे हुए है। हम प्रथम कारण को स्वीकार करते हैं और विश्व की योजना तथा उद्देश्य को देखते हुए यह

मानते हैं कि यह बुद्धि का ही एक रूप है। विश्व में 'शिवम्' और 'सुन्दरम्' की पहचान से हम 'अस्ति' में यथार्थ गुणों का समावेश करते हैं, वह अस्ति जो विश्व का आधार ही नहीं उसका प्रेमी भी है। मानव-हृदय उसे सत्कर्म का शाश्वत देव मानता है। ईश्वर ज्ञान, कर्म और उपासना का प्रतीक है।

कुछ लोग मानते हैं कि यह आध्यात्मिक सत्य केवल परिकल्पना ही नहीं, एक अनुभवजन्य सत्य है। अपनी दीर्घ आत्म-वेदना के पश्चात् जॉब (Job) ने भगवान से कहा था—"मेरे कानों ने अभी तक तुझे सुना है, किन्तु अब मेरे नयन तेरा दर्शन करते हैं।" अनुभव केवल विज्ञान और वैज्ञानिक विधि तक ही सीमित नहीं, उसके कई रूप हैं। चरित्र, सौंदर्य और धर्म-सम्बन्धी उसकी कई दिशाएं हैं। हम ज्ञान की उत्कट इच्छा, सौन्दर्य की लालसा, सत्कर्म की शक्ति और ब्रह्मानन्द की प्रेरक अनुभूति को अनुभव की परिधि से बाहर नहीं निकाल सकते। जब हम यह कहते हैं कि मनुष्य परमात्मा का ही अंश है, इसका अर्थ यह होता है कि मनुष्य की विशुद्ध आकांक्षाएं एक ऊंचे सत्य का प्रतिबिम्ब हैं। मनुष्य में एक दैवी चिनगारी है, जिसके साथ उसे सीधा सम्बन्ध स्थापित करना पड़ता है। संसार में जो भी सुख है, उसका आधार परोप-कार की उत्कट इच्छा है और जो भी क्लेश तथा दुःख है, उसका उद्गम केवल निजी सुख की अभिलाषा है।

सत्य को जानने का परिश्रमपूर्ण प्रयास ही धर्म है। सिद्धान्त और धार्मिक विधियों का अभिप्राय हमारे अन्दर आध्यात्मिक भाव को जाग्रत करना और जीवन की नवीन संभावनाओं को सुलभ करने में सहायता करना है।

अन्तिम सत्य की अनुभूति आत्मसंयम और तपस्वी जीवन द्वारा ही हो सकती है। यदि धर्म ने अपराध और नृशंसता से हमें सुरक्षित नहीं किया है, इसका कारण है कि हम रीति और विधि के अनुकरण और सिद्धान्तों की मान्यता पर ही सन्तुष्ट हो जाते हैं और अपने जीवन के उत्कर्षार्थ, आत्मा के शोधन के लिए, कुछ नहीं करते। आध्यात्मिक कार्य-

प्रणाली, दरिद्रता, पवित्रता और आज्ञानुशीलन—ये सब साधारण ऐहिक जीवन से ऊपर उठने के मानवीय प्रयत्नों के द्योतक हैं। ईसाई धर्म में 'क्रॉस चिन्ह' ऐंद्रिय जगत के बन्धनों से मुक्त होने का प्रतीक है। यदि हम अहं को त्याग दें तो हमारी प्रकृति दैवीशक्ति की प्राप्ति का साधन अथवा दैवेच्छा का अस्त्र बन जाएगी। यदि हम वास्तव में धर्मनिष्ठ हैं तो जहां और लोग अभिशाप बरसाते हैं हम वरदान देंगे, जहां और घृणा करते हैं हम प्रेम करेंगे, जहां और निन्दा करते हैं हम क्षमा करेंगे और जहां और लोग लेने को झपटते हैं वहां हम देने को उत्सुक होंगे। जो ब्रह्म में निवास करता है, वह "किसीको धोखा नहीं देगा, किसीसे घृणा नहीं करेगा और क्रोधवश किसीके अहित की इच्छा नहीं करेगा। प्राणिमात्र के लिए उसमें असीम प्रेम होगा, जैसे माता को अपने बच्चे के लिए होता है, जिसकी रक्षा वह अपने प्राण देकर भी करती है।" बुद्ध ने ब्रह्म-विहार का इसी प्रकार वर्णन किया है।

यदि धर्मों में आपसी संघर्ष है तो उसका कारण यह है कि हम रहस्य से दूर भागते हैं और धार्मिक सत्य को बौद्धिक भाषा में व्यक्त करते हैं। परम सत्य वाक्यों से व्यक्त नहीं किया जा सकता। वास्तव में हम इसे केवल कल्पनामूलक प्रतीकों द्वारा ही व्यक्त कर सकते हैं। सिद्धान्तों के संबंध में विवादों का परिणाम लोगों में उन्माद और नेताओं में संकीर्ण कट्टरता के उदय के रूप में हुआ है। यदि हमें सत्य के दर्शन करने हैं तो सिद्धान्तों से ऊपर उठना होगा और अपने मानस की गहरी परतों को सूक्ष्मदृष्टि से देखना होगा। धार्मिक अनु-भूति के अभाव में धार्मिक उपकरण मानव की धार्मिक पिपासा को तृप्त नहीं कर सकते। सच्चे धर्म का अर्थ है पूर्ण हृदय से आत्म-सम-र्पण। भक्ति के समय हम अपने आपको सम्पूर्ण रूप से एक समन्वित के प्रति किसी पुरस्कार की आशा किये बिना समर्पित करते हैं। धार्मिक अनुभूति जुदा करने की बजाय मिलाती है। विलगता की भावना इसमें अतिक्रान्त हो जाती है।

नैतिक और सामाजिक प्रगति का आधार हमारे निजी प्रतिकूल

स्वभाव तत्वों के बीच सामंजस्य और अन्य लोगों के लिए सहानुभूति स्थापित करना है। हमें आन्तरिक ऐक्य की भावना को प्रोत्साहित करना चाहिए। जिसे योग कहते हैं, वह ऐसा अनुशासन है जिससे हम इंद्रियों की पुकार को और बुद्धि के रूपों को शान्त करते हैं और भीतरी आध्यात्मिक शक्ति को जगाते हैं। आध्यात्मिक पक्ष का उद्‌बोधन उन्हींके लिए है, जिनमें सूझबूझ, दया और प्रेम है। जैसे बाह्य जगत के वीक्षण के लिए शारीरिक इंद्रियों की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार आध्यात्मिक सत्य के दर्शन के लिए हमें आन्तरिक सूक्ष्म इंद्रियों की जरूरत है।

आध्यात्मिक दर्शन और बौद्धिक प्रयत्न में पारस्परिक विरोध नहीं। आध्यात्मिक दर्शन पूर्ण अभिज्ञान है। शताब्दियों में हमने जिस सीमा तक बुद्धि का विकास किया है, धर्म को भूलों और भ्रमों से ऊंचा उठाने के लिए हमें उसका उपयोग करना है। हमें उसकी अवहेलना नहीं करनी चाहिए।

काल-चक्र को पीछे नहीं घुमाया जा सकता और न ही उसकी गति रोकी जा सकती है। हम अचेतन के गर्भाशय में नहीं बैठ सकते और न तर्कहीनता का प्रश्रय ले सकते हैं। बुद्धि से हमें वास्तविक और कृत्रिम सूक्ष्म दर्शन में भेदभाव करने में सहायता मिलती है। अन्तर्ज्ञान बुद्धि के बिना चक्षुहीन है, और बुद्धि अन्तर्ज्ञान के बिना निराधार है। इन दोनों में सन्तुलन होने से ही मानव पूर्णता को प्राप्त कर सकता है।

अनुभवजन्य भावात्मक, बौद्धिक और आध्यात्मिक अहम् की पूर्ण प्रतिक्रिया ईश्वर ही है। धर्म का विषय सम्पूर्ण मनुष्य है, विभागों में इसका अनुभव नहीं किया जा सकता। हमारा विश्वास बौद्धिक, आराधना भावात्मक और समर्पण विकल्पात्मक है। ऐसे किसी भी धार्मिक विचार को हम स्वीकार नहीं कर सकते, जबतक कि औरों के लिए संचार-दुस्तर और स्वयं के लिए स्वतःसिद्ध आत्मा का समर्थन उसे प्राप्त न हो। 'प्रबुद्ध' शब्द का, जिसका उपयोग उपनिषद्, बुद्ध और जीसस ने किया है, अर्थ है अनुभूति। सोते हुए या स्वप्नावस्था

में जीवन-पथ पर मत विचरो। जागृति एक स्वानुभव है।

विभिन्न धर्मों में से हम उनके विशिष्ट तत्वों की उपेक्षा नहीं करते। विश्वास अनुभव की सूत्रबद्ध परिभाषाएं हैं। धार्मिक परम्पराएं, रीति-रिवाज शून्य से नहीं उपजते। उनकी जड़ें भूमि में होती हैं और उन्हें वही जीवनदायिनी तत्व पोषण देते हैं। हम मतभेदों को स्वीकार करते हैं और उन्हें समझने का यत्न करते हैं। संसार को किसी एक सांचे में ढालने के प्रयत्न को हम प्रोत्साहन नहीं देते। किसी भी प्रकार की धार्मिक सार्वभौम भाषा (Esperanto) में हमारी आस्था नहीं है।

यद्यपि हमारा चिन्तन अन्तर्राष्ट्रीय अथवा विश्वव्यापी है, हमारे निजी प्रयासों को भी, यदि वे मानवता के प्रतिकूल न हों, बढ़ने का अवसर मिलना चाहिए। धर्म अतीन्द्रिय सत्य का, जिसे हम ईश्वर कहते हैं, प्रतिफलन है, जिससे स्पष्ट अथवा अस्पष्ट रूप से सभी मानव परिचित हैं। हो सकता है, हम सभी आध्यात्मिक दृश्य के उसी पहलू को न देखते हों अथवा उसे समान स्पष्टता से न देख पाते हों। चूंकि सत्य एक है, विभिन्नता होते हुए भी प्रतिक्रिया में कुछ एकरूपता रहती है। धर्म चाहे कितने ही विचित्र हों, हमें उन सभीमें कुछ तत्व सामान्य रहते हैं। इसके अतिरिक्त, आज वैज्ञानिक ज्ञान, आधुनिक आलोचना, बढ़ती हुई चेतना और उभरती हुई विश्व-एकता को भी ध्यान में रखना है। परिणामतः उनकी प्रवृत्ति एक दूसरे की ओर झुकने की है, क्योंकि सभी धर्म नूतनता ग्रहण कर रहे हैं।

: ४ :

अब मैं अपने शेष अभिभाषण में कई-एक बड़े धर्मों के विकास के सम्बन्ध में कुछ कहूंगा; और मैं उनकी मुख्य-मुख्य बातें संक्षेप में ही कह सकता हूं। विचार, अभ्यास और आध्यात्मिक चेतना के साथ विचारों की उलझन के पीछे मनुष्य को ऐसे लक्षण दिखाई देते हैं, जिनमें बहुत-कुछ समानता है। ये नित-नयी विचारधाराएं बताती हैं कि मूल रूप से मानव-स्वभाव एक-सा है और यही विचार भविष्य की आशा है।

आदिकाल से भारत की धार्मिक परम्परा में अपना एक विशेष गुण रहा है। उसमें विशालता और लोच है तथा वह सतत प्रगतिशील है। 'विभिन्नताओं में एकता'—इस विचार को हमारे धर्म ने अपने इतिहास में कभी विलग नहीं होने दिया। वह सामाजिक संस्थाओं की विशेषताओं और उसके व्यक्तिगत अधिकारों का तबतक आदर करता है, जबतक कि वे उस सामाजिक व्यवस्था से मेल खाते हैं, जो सदियों से उसके साथ ताने-बाने की तरह बुनी गयी है।

पुरातत्ववेत्ता हमें भारत की फलती-फूलती आर्य-पूर्व सभ्यता, जो मकरान तट से काठियावाड़ तक और उत्तर में हिमालय की तराई तक फैली थी, के सम्बन्ध में बताते हैं। उसका विस्तार असमान त्रिकोण की तरह था। तीनों ओर से उसका विस्तार-माप क्रमशः ९५०, ७०० और ५५० मील था। इन भागों के भग्नावशेषों से यहां की प्रोन्नत सभ्यता का पता चलता है, जो सुमेर, एलम और मसोपोटेमिया की सभ्यता से भी बहुत हद तक सम्बद्ध थी।[१] यद्यपि अभी भी हम उन अभिलेखों को पढ़ने में असमर्थ हैं, जो खोज में निकली मुहरों पर खुदे हैं, फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि पश्चिम एशिया और उत्तर भारत की सभ्यता और संस्कृति के बीच पारस्परिक गहरा सम्बन्ध था। इन्हें एक लिपि, माप-तौल की एक प्रणाली मालूम थी और धातुविज्ञान की भी उन्हें काफी अच्छी जानकारी प्राप्त थी। यद्यपि इस सभ्यता का आरंभ बहुत पहले हुआ होगा, फिर भी यह माना जा सकता है कि ईसा-पूर्व २७०० से १७०० तक यह सभ्यता शान्तिपूर्वक चलती रही। यह विश्वास करना कठिन है कि इस

---

[१] मि० पिगौट (Piggott) अपनी पुस्तक 'प्रागैतिहासिक भारत' (Pre-Historic India) में कहते हैं—"प्राचीन काल में भारत मेडेटरेनियन और मेसोपोटेमिआई जगत और सुदूर पूर्व के बीच मोड़ पर स्थित था। उसकी सांस्कृति तथा व्यापार-वाणिज्य का विस्तार एशिया माइनर, ग्रीक तथा रोमन जगत तक पहुंचा था। समुद्र से उत्तर अफ्रीकी क्षेत्र तक, स्थल से तिब्बत, मध्य एशिया और सुदूर पूर्व तक तथा जल-स्थल दोनों मार्गों से फिलिपीन्स के सुदूर दक्षिण-पूर्व एशिया तक उसका विस्तार हुआ।"

उन्नत सभ्यता के बड़े-बड़े शहर, सुनिर्मित भवन, विशाल अन्न-भंडार, प्रभावशाली स्नानागार और सफाई-व्यवस्था के उपकरण, बाद की भारतीय सभ्यता पर अपना प्रभाव छोड़े बिना लुप्त हो गए हों।

उन मुहरों पर जानवरों से घिरे योगी के आसन में बैठे हुए तपस्वी शिव की मूल प्रतिमाएं प्राप्त हुई हैं। उनसे मातृ-देवियों की परम्परा का प्रमाण भी मिलता है, जो आज भी भारत में प्रचलित है। वह योगासन की आकृति मानव के विकास की परिचायक है कि कैसे वह ध्यान और आत्म-संयम द्वारा ज्ञान के ऊंचे स्तर पर पहुंचता था। वह व्यक्ति की आत्मोन्नति के लिए एकान्त-वास पर जोर देता है।

सिन्धु की तराई की सभ्यता के धर्म के विषय में हमारा ज्ञान बहुत कम है और यहां जो कुछ भी कहा गया है, वह केवल एक अटकल और अनुमान है।

: ५ :

भारतीय सभ्यता का दूसरा चरण आर्यों के उद्भव से आरंभ होता है। भारतीय आर्य सभ्यता का विकास कदाचित् ईसा से तीन हजार वर्ष पूर्व हुआ होगा। ईरानी लोगों से मिलते-जुलते आर्य भारोपीय भाषा समुदाय की कोई भाषा बोलते थे। उनकी भाषा में ही समानता नहीं है, किन्तु पूर्व में भारतीय और ठेठ पश्चिम में ट्यूटन्स को मिलाकर यूरोपीय लोगों की पौराणिक कथाओं, धार्मिक संप्रदायों, सामाजिक संस्थाओं और रीति-रिवाजों में भी समानता है।

चारों वेदों के अज्ञातनामा लेखकों से, जिन्होंने शब्दों द्वारा अपने शिष्यों को उन वेदों का ज्ञान प्रदान किया, भारत को धर्म और दर्शन के सम्बन्ध में एक सुनिश्चित मार्ग मिल गया। धर्म अनुभव-जन्य है, यह घोषणा उनका केन्द्रीय सत्य है। ऋग्वेद में कहा गया है कि योगी परमात्मा के सर्वोच्च निवासस्थान का सतत दर्शन उसी तरह करते हैं जैसे खुले नेत्र विस्तृत आकाश का।[६] उस परमात्मा का ज्ञान अपार्थिव होते हुए भी इन्द्रियबोध के समान है।

---

[६] सदा पश्यन्ति सुरयः तद्विष्णोः परमंपदं दिवीव चक्षुराततम

प्रत्यक्ष का वर्णन भावात्मक और अभावात्मक, अतीन्द्रिय और ऐन्द्रिय दोनों ही तरह का है। सत्य ही ईश्वर है, जो अवाच्य और अपरिवर्तनशील है। वह आस्तिकता का ईश्वर है। वह विभिन्न रूपों में वर्णित है—

"एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति"

"सत्य एक है, विद्वान मनीषी बहु-प्रकार से उसका वर्णन करते हैं।"

यह विचार हठ और असहिष्णुता को सहारा नहीं देता। जबकि यूनानी धर्म ने विशिष्ट पौराणिक गाथाओं से मुंह मोड़ लिया, तो ऋग्वेद ने एक विनम्र मार्ग ग्रहण किया तथा कई देवी-देवताओं को, जो इस जगत के सामूहिक अचेतन में विद्यमान थे और काल्पनिक जगत में जिनकी जड़ें जमी हुई थीं, मान्यता दी। वे उस अनन्त के देवदूत माने गये। अथर्ववेद हमें बताता है कि समय और अमरत्व का संयोग मानव है—

"यत्राऽमृतं च मृत्युश्च पुरुषेऽवधि समाहिते"[७]

मृत्यु और अमरत्व दोनों मनुष्य में हैं। "मैं इस धरती की सन्तान हूं",[८] अमरत्व जिसकी मंज़िल है। आत्म का परमात्मा से मिलन, यही धर्म का उद्देश्य है।

वेदों के अन्तिम भाग उपनिषदों, वेदान्त, में हम मानव में आध्यात्मिक ज्ञान पाने की उत्कट इच्छा पाते हैं। जन्म-मरण और काल के बन्धन से वह मुक्त होना चाहता है। "उस पुरुष को जानो जो जन्म और मृत्यु की व्यथा से ऊपर है।"[९]

उपनिषदों में स्पष्ट बताया गया है कि उस परमात्मा की प्राप्ति केवल आत्मा की आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि से ही हो सकती है। वह अनन्त रहस्य केवल बुद्धि से प्राप्त नहीं हो सकता, 'न मेधया" वह अथाह ज्ञान से भी प्राप्त नहीं होता 'नबहुना श्रुतेन' और फिर भी वह जाना जा सकता

---

[७] १०।७।१५

[८] माताभूमिः पुत्रोऽहम् पृथिव्याः (अथर्ववेद १२।१।१२)

[९] तम् वेद्यम् पुरुषम् वेद मा वोमृत्युः परिव्यथाः।

है। ऋषि-मुनियों ने बताया है कि उन्होंने अन्धकार से परे रहते हुए उस परम पुरुष को जाना है[10]। जो उसे जान जाते हैं, वे अमरत्व पा जाते है।[11]

उपनिषदों ने दो रहस्यों की खोज की है। इनका भान हमें तब होता है, जब हम इस जड़ जगत् के ज्ञान की चरम सीमा पर पहुंच जाते हैं। एक, उस 'अहं' का जो 'आत्मा' कहलाता है और दूसरा, इस संसार से परे उस 'ब्रह्म' का। ये दोनों एक दूसरे से सम्बन्धित हैं और सतत साधना से ही आत्मा को उस देवत्व का अनुभव होता है। छांदोग्य उपनिषद् में कहा गया है—"निस्सन्देह इस आत्मा का निवास हृदय में है।"[12] यह हृदय है, इसीलिए वह 'हृदयम्' कहलाता है। यही गहनतम सच्चाई मनुष्य के अन्तरतम अस्तित्व का अंग है। ब्रह्म ही आत्मा है।

उपनिषदों ने कोई पंथ नहीं सिखाया था। अपने चारों ओर किसी प्रकार की अभेद्य दीवारें खड़ी नहीं कीं। उनका उद्देश्य आत्मा की मुक्ति था। हमें अविद्या के अन्धकार से मुक्त होना है, वह अविद्या जो हमारे चेतन मन को ढक देती है और जो हमारी आत्मा को इस ऐहिक जीवन की सीमाओं में बांध देती है। अविद्या से 'अहं' भाव उपजता है और यही अहंकार लोभ और स्वार्थजनित कठोरता का स्रोत बन जाता है। मोक्ष स्वार्थ का अन्त है, प्रेम की पराकाष्ठा आत्म-चेतना की स्थिति है। मानव को जीवन के ध्येय का सदुपदेश देकर और अपनी समस्त शक्तियों के साथ आत्मा-परमात्मा का सम्बन्ध समझने का उपदेश देकर, हिन्दूधर्म ने अपने-आपको विस्मृति के गर्त से उबारने का बार-बार यत्न किया है।

: ६ :

उपनिषद् के इस ऊंचे ज्ञान के होते हुए भी लोग धर्मान्ध बन गए, कर्मकाण्डरत हो गए और जाति-बन्धन मानने लगे। भगवान महावीर

---

[10] वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्

[11] य एतद् विदुराऽमृतास्ते भवन्ति।

[12] एष आत्मा हृदि।

और बुद्ध ने इसके विरुद्ध आवाज उठाई। उन्होंने हिन्दूधर्म को अपवित्रता और पाखण्ड से हटाकर उसे शुद्ध करने का यत्न किया।

महावीर ने धार्मिक सत्य और अहिंसा के सिद्धान्तों के सम्बन्ध पर ज़ोर दिया। उन्होंने त्याग, आत्म-संयम और करुणायुक्त जीवन पर बल दिया। जो बुद्धि दीनों, आर्तों, भयभीतों और प्राणदान की याचना करने-वालों के कष्टों का प्रतिकार करना चाहती है, उसे करुणा कहते हैं।[13]

बुद्ध करुणहृदय और कुशाग्र-बुद्धि थे। प्राणिमात्र के लिए उनके हृदय में सहानुभूति थी। वे करुणा के सागर थे, 'महाकारुणिक' थे। वे बुद्धिगम्य और अनुभूत तथ्यों को मानने को कहते थे।[14] किन्तु वे सदा इसी सिद्धान्त पर नहीं चले, क्योंकि उन्होंने तत्कालीन प्रचलित कई विचारधाराओं को, जैसे कर्म, पुनर्जन्म, आत्म-संयम के लिए योगा-भ्यास और मन की एकाग्रता, जो मनुष्य को प्रज्ञा और समाधि की अवस्था में पहुंचा देती है, स्वीकार किया था।

बुद्ध का उपदेश सबके लिए था। किंवदन्तियां बताती हैं कि आत्म-ज्ञान प्राप्त हो जाने के बाद वे उन लोगों को सत्य का उपदेश देते हुए झिझकते थे, उसे समझते नहीं थे, पर ब्रह्म द्वारा ही सबको ज्ञान प्राप्त होता है, यह मानते थे। उन्होंने एक महान संकल्प किया था कि 'उस अमर परमात्मा का द्वार, उन लोगों के लिए, जिनके पास सुनने के लिए कान हैं, सदा खुला है।' उन्होंने अपने शिष्यों से कहा—"भिक्षुओ, तुम अब जाओ, करुणाभाव से प्रेरित हो मानव के कल्याण के लिए, जग के हित

---

[13] दीनेश्वार्त्तेषु भीतेषु याचमानेषु जीवितम्
प्रतिकारपरा बुद्धिः कारुण्यम् अभिधीयते

[14] देखिये—"जो दूसरों से सुनो, उसे स्वीकार मत करो; लकीर के फकीर न बनो; परिणाम निकालने में जल्दी न करो; किसी बात को इस आधार पर स्वीकार न करो कि वह हमारी पुस्तकों में लिखी है और न ही यह मानकर कि यह स्वीकार करने योग्य है; न ही इसलिए कि वह तुम्हारे विश्वासों के अनकूल है और न ही इसलिए कि वह तुम्हारे गुरु द्वारा कही गयी है।"
—अंगुत्तर निकाय : ३।६५

के लिए और मानव-समाज में छोटे-बड़े सभीके मंगल के लिए प्रयत्न करो।"[15] 'महापरिनिब्बान सुत्त' में बुद्ध आनन्द से कहते हैं—"मैंने अन्तर्बाह्य में भेद किये बिना इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, तथागत साधारण शिक्षक के समान संकीर्ण-हृदय नहीं, जो शिष्यों को थोड़ा-कुछ ही देता है और बहुत-सा अपने पास ही रख लेता है। 'अंगुत्तर निकाय' में कहा गया है कि तथागत का सिद्धान्त पूर्ण चन्द्र और पूर्ण सूर्य के समान सबके लिए समानरूप से प्रकाशमान है और किसीसे छिपा नहीं।"[16]

सिद्धान्त के सम्बन्ध में तीव्र मतभेदों की बुद्ध निन्दा करते हैं। यज्ञ के पास बैठे हुए ब्राह्मण के साथ तथागत, उसकी पूजनविधि की निन्दा किये बिना उससे विवाद करते हैं। लिच्छविओं का सेनापति सिंह जैन था; किन्तु जब उसने बौद्धमत की दीक्षा ले ली तब भी बुद्ध ने उससे पहले की तरह ही सिंह के घर आनेवाले जैनियों को खाद्य वस्त्रादि उपहार देते रहने का अनुरोध किया। 'सिगालोवाद सुत्त' में और अन्य कई स्थलों पर बुद्ध ने कहा है कि सज्जन श्रमण और ब्राह्मण दोनों के प्रति समानभाव रखता है और उनकी सेवा में रत रहता है। सच्चे ब्राह्मण का लक्षण प्रज्ञा और स्थिरता है, सच्चा यज्ञ बुराई से दूर रहकर सत्य का अनुसरण करना है।

बौद्धधर्म के सभी मतों के आवश्यक आधार गौतम बुद्ध के बताए हुए चार सत्य हैं। बुद्ध की प्रमुख शिक्षा 'मध्यम मार्ग' है, जो अतिशय तपश्चर्या और अतिशय विलास दोनों की निन्दा करता है।

हीनयान के अनुसार बुद्ध अतिमानव हैं और उनमें अतिमानवीय शक्तियां हैं, यद्यपि प्रायः उन्हें ऐसे मानवीय शिक्षक के रूप में समझा जाता है, जिन्होंने नव-निर्माण के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। हीनयान के अज्ञेय अस्तित्ववाद ने दार्शनिक जिज्ञासा को प्रोत्साहित नहीं किया। इसने अपने अनुयायियों को विश्व-व्यापकता की भावना और अन्तिम सत्य के साथ निकट सम्बन्ध की कल्पना से प्रेरित नहीं किया।

[15] महावग्ग —१।११

[16] ३।१२९

'अन्-अत्त' (अनात्म) सिद्धान्त नैतिकता के बहुत अनुकूल नहीं है। यदि आत्मा निरन्तर नहीं है तो उसके अन्तरजीवन की आशा नहीं की जा सकती। उस अवस्था में नैतिक दायित्व और नैतिक पुरस्कार तथा यातना का सिद्धान्त निरर्थक हो जाता है। आत्मीय पूजन और मानव मन पर वांछनीय प्रभाव डालने के लिए कर्मकाण्ड की व्यवस्था अन्य धर्मों में भी पायी जाती है, जैसे हिन्दूमत, इस्लाम, ईसाई धर्म और यहूदी मत। यह व्यवस्था इन धर्मों में सार्थक है, क्योंकि दैवी सिद्धान्त में इनकी आस्था है। विश्व के नैतिक सिद्धान्त में विश्वास, अर्थात् मनुष्य जैसा करेगा वैसा भोगेगा, इस धारणा का अर्थ यह है कि सृष्टि में न्याय, उद्देश्य और मानस आधारभूत तत्व हैं।

महायान में परम्परा के अनुसार पूर्ण ब्रह्म और साकार ईश्वर की निरन्तरता है। शून्य का न अस्तित्व है और न अनस्तित्व, न दोनों का अस्तित्व और न अनस्तित्व। शून्य के कारण सृष्टि की उत्पत्ति संभव हुई है—"जो शून्य से संबद्ध है, वह विद्यमान से संबद्ध है; जो शून्य से विलग है, वह विद्यमान से परे है।"[१७] बाद में शून्य धर्म के साथ एकाकार हो जाता है। धर्म पूजा-विधान[१८] में (ग्यारहवीं शताब्दी) एक प्रार्थना इस प्रकार है—"जिसका न आदि है न अन्त, जिसका न आकार है न प्रकार, जो जन्म-मरण से परे है, जो सर्व-व्यापक और ध्येय की सीमाओं से ऊपर है, जो अमल और अमर है और जो योग द्वारा ही प्राप्त किया जाता है, वह 'शून्यमूर्ति' मेरा उद्धारक हो।" शून्यधर्म अस्तित्वहीन नकारात्मक नहीं, किन्तु उसका अस्तित्व है, जो इस सृष्टि का मूल कारण है।

ज़न (Zen) बौद्धमत ने विचार से परे अविचार की स्थिति तक पहुंचने की विधि का विकास किया है, जो इसकी 'सातोरी' अथवा अद्वैत के कालातीत दिव्य क्षण के नाम से प्रसिद्ध है। ज़न अनुभव सिद्धान्त तथा विचारात्मक सीमाओं का नाशक है। इसका व्यक्तिगत ईश्वर में विश्वास नहीं और न परित्राता में आस्था है।

---

[१७] माध्यमिक कारिका—२४।१४

[१८] लेखक, बंगाल के रमाई पंडित

अपने सभी रूपों में बौद्धमत प्रेम और करुणा का धर्म है। धम्मपद में कहा गया है—"हिंसा से सभी कांपते हैं, मृत्यु से सभी डरते हैं। यह ध्यान रखते हुए कि आप सब उन्हींके समान हैं, किसीकी हिंसा मत कीजिए और न हिंसा का कारण बनिए।"

हिन्दू, बौद्ध और जैन-प्रणालियां आनन्द, मोक्ष और निर्वाण की प्राप्ति को संभव मानती हैं, जो निग्रहपूर्ण सात्विक जीवन से ही प्राप्त हो सकता है। पूर्णपुरुष मुक्त, अर्हत्, केवलिन, बुद्ध अथवा जिन कहलाता है।

भगवद्गीता में धर्म के आस्तिक पक्ष पर बल दिया गया है। भागवद्-पुराण में ईश्वर को परमगुरु माना गया है।[१९] ईश्वर मार्ग-दर्शक है, समस्त विश्व का मित्र है और मानव की आध्यात्मिक महत्वा-कांक्षाओं का लक्ष्य है।[२०] भगवद्गीता सिद्धान्तवाद और असहिष्णुता से मुक्त है। उसमें कहा गया है :—

"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्या पार्थ सर्वशः"[२१]

अर्थात् "जो मेरे को जैसे भजते हैं, मैं भी उनको वैसे ही भजता हूं। इस रहस्य को जानकर ही बुद्धिमान मनुष्यगण सब प्रकार से मेरे मार्ग का अनुसरण करते हैं।"

परब्रह्म की प्राप्ति के लिए विभिन्न मार्ग स्वीकार किये गए हैं। "तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत्" अर्थात् "अच्छी प्रकार न समझनेवाले मूर्खों को अच्छी प्रकार जाननेवाला ज्ञानी पुरुष विचलित न करे।"[२२] बहु-देववाद को उन्होंने अस्वीकार नहीं किया, किन्तु उसे पीछे छोड़ दिया।

महान आचार्यों ने विशिष्ट विधियों से उपनिषदों का विकास किया। शंकर तथा उनके अनुयायियों ने उपनिषदों के व्यक्तिगत संबंधों

---

[१९] भगवतः परमगुरो—६।९।४३

[२०] इवंसर्वलोकस्यसुहृद् प्रियेश्वरोहि आत्मा गुरुर्ज्ञानम् अभीष्ठ सिद्धिः

[२१] भगवद्गीता ४।११ (८।२४।५२)

[२२] भगवद्गीता ३।२९, ३।२६ भी देखिये

से अतीत रूप पक्ष का समर्थन किया, जबकि रामानुज, मध्व, वल्लभ, निम्बार्क आदि वैष्णव आचार्यों ने उपनिषदों और भगवद्गीता की भाव-भक्ति-परक प्रवृत्ति पर बल दिया ।

: ७ :

दसवीं शताब्दी से भारत पर मुसलमानों के आक्रमण आरम्भ हुए और १६वीं शताब्दी में उनका राज्य स्थापित हुआ । मुसलमान शासक अपने आपको भारतीय मानते थे । अलबरूनी (११वीं शती) ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'तहकीके हिन्द' में भारत के लोगों में पायी जानेवाली धार्मिक सहिष्णुता पर आश्चर्य प्रकट किया है, यद्यपि उसने यह भी कहा है कि उन्हें अपनी सभ्यता पर गर्व है और सभी विदेशी वस्तुओं से घृणा है । इस गर्व के कारण, हिन्दूधर्म में भारी संख्या में आदिवासियों और बहिष्कृत जातियों के खप जाने से पहले उसकी प्रगति रुक गयी । भारत की आत्मा कुचली गयी और वह मुसलमानों को पूर्वगामी आक्रमण-कारियों की तरह आत्मसात न कर सकी ।

इस्लाम ने एकेश्वरवाद और समाजसेवा पर ज़ोर दिया। हिन्दू विचारकों ने उसके प्रभाव का अनुभव किया । चंडीदास कहते हैं—

"सुनो भई साधो, मानव सृष्टि में सर्वोत्तम जीव है, उससे ऊंचा कोई नहीं ।"[२३]

जयदेव, रामानन्द, एकनाथ, तुकाराम, चैतन्य, मीराबाई और तुलसीदास ने हिन्दूधर्म के मूल सिद्धान्तों को पुनर्जीवित किया और उन लोगों को आकर्षित किया, जिनके मन आध्यात्मिक विचारों से शुष्क बन गये थे और जिनके हृदय दिखावे की ईश्वर-भक्ति और जाति की सीमाओं के विरुद्ध विद्रोह करते थे । उन्होंने हिन्दू-मुसलमान के विचारों को एक करने का यत्न किया । कबीर, नानक, दादू, बीरभान और

---

[२३] महाभारत में कहा है कि मनुष्य से ऊंचा कोई नहीं है—"न मानुषात् श्रेष्ठतरंहि किंचित्" ।

"शुन हे मानुष भाइ सवार चेये मानुष ऊपर ताहार ऊपर नाइ ।"

जीवनदास इत्यादि इस दूसरी विचारधारा को माननेवालों में थे।

हिन्दू सन्त रामानन्द का शिष्य कबीर (१४ वीं शती) पूछता है—"कहे कबीर जंह बसहु निरंजन
तहं कछु अहि कि शून्यम् ?"[२४]

"ओ निरंजन, जहां तुम बसते हो वहां कुछ और भी है या केवल शून्य है ?" वह कहता है—

"उन्मन मनुआ सुन्नि समह दुबिधा दुरमति भागी,
कहु कबीर अनुभौ इकु देख्या राम नाम लौ लागी।"*

और फिर—

"ऐसा लो नहिं तैसा लो, मैं केहि विधि कथौं गंभीरा लो।
भीतर कहूं तो जगमय लाजै, बाहर कहूं तो झूठा लो।।
बाहर भीतर सकल निरन्तर, चित-अचित दोउ पीठा लो।
दृष्टि न मुष्टि परगट अगोचर, बातन कहा न जाई लो।"[२५]

"पुराण और कुरान तो केवल शब्दमात्र हैं, आवरण के अन्तराल में उसे हटाकर, मैंने उसको देखा है।"

"को हिन्दू को तुरक कहावै एक जिमीं पर रहिये।
अल्लह-राम-करीमा केसो (ही) हजरत नाम धराया।
वेद-कितेब पढ़े वे कुतुबा, वे मोलना वे पांडे।
बेगरि-बेगरि नाम धराये, एक मटिया के भांडे।। †

दादू कबीर का शिष्य था।

नानक ने उपनिषदों की शिक्षा के आधार पर हिन्दू और इस्लाम को मिलाने का यत्न किया और नये सिक्खमत के उद्भव में उसका अन्त हुआ। "मैं न हिन्दू हूं, न मुसलमान। मैं उस निराकार को पूजनेवाला

---

[२४] 'कबीर-ग्रन्थावली'—पृष्ठ ४६

*'कबीर-ग्रन्थावली'—पृष्ठ २९१.९१ (संपादित)

[२५] 'कबीर'—हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ २३८

† कबीर, पृष्ठ ३५९

भक्त हूं।" बहुत-से बाउल कवि (बंगाल के) इसी विचारधारा के मानने-वाले थे। उनमें से एक, जिसका नाम मदन है, उसने गाया है—

"हे प्रभु, तुम्हारा मार्ग मंदिरों और मस्जिदों ने ढंक लिया है, मैं तुम्हारी पुकार सुन रहा हूं, किन्तु गुरु ने मार्ग रोक लिया है। जो कुछ मेरे मन को शांति देता है, उससे दुनिया घबरा जाती है, नानात्व के द्वन्द्व में 'एक' का मार्ग रुद्ध हो जाता है। इस द्वार पर अनेक ताले लगे हुए हैं—कुरान के, पुरान के, माला के। मुक्ति का मार्ग भी अनेक बाधाओं से घिरा है, इसलिए मदन निराश होकर रो रहा है।"[२६]

अकबर ने महसूस किया कि सत्य किसी एक धर्म की सम्पत्ति नहीं और सब धर्मों के धर्म-ग्रन्थों ने उसी एक सत्य की शिक्षा दी है। उसने हिन्दू और मुस्लिम मतों के समन्वय का यत्न किया। उसने फतेहपुर सीकरी में प्रसिद्ध 'इबादतखाना' (पूजाघर) बनवाया, जहां मुसलमान फकीर, हिन्दू सन्त, जैन गुरु, जोरोस्ट्रियन पादरी और ईसाई मिशनरी मिलते और आध्यात्म तथा धर्म की समस्याओं की चर्चा करते। इन धर्मगुरुओं से विलग रहकर और फिर भी उनसे प्रभावित होकर, उसने 'दीन-इलाही' मत को जन्म दिया, जो उन विभिन्न धर्मों के सत्य का, जिन्हें वह जानता था, सम्मिश्रण था। दीन-इलाही की ओर इसके जन्मदाता के अतिरिक्त कोई आकर्षित नहीं हुआ। जो भी हो, वह सहिष्णुता की भारतीय परम्परा को अभिव्यक्त करता है। अकबर का प्रयत्न निष्फल हुआ; क्योंकि वह जीवित समन्वय नहीं, बौद्धिक धार्मिकता थी।

बादशाह शाहजहां के पुत्र दारा शिकोह (जिसका जन्म २० मार्च १६१५ ईस्वी में हुआ), सूफीमत की ओर आकर्षित हुआ, जिससे ज्ञात होता है कि ईश्वर तक पहुंचने के उतने ही मार्ग हैं, जितने उसे खोजनेवाले। उसने पचास उपनिषदों के फारसी अनुवादोंसहित अनेक पुस्तकें लिखीं। उसकी रुचि एक बड़े विद्वान के रूप में नहीं, धार्मिक

---

[२६] "रिलिजियस एज्युकेशन" — रवीन्द्रनाथ टैगोर—'विश्वभारती' त्रैमासिक, अंक १, भाग ३, न्यू सिरीज़, नवम्बर-जनवरी १९३५-३६, पृष्ठ १०

विचारक के रूप में थी। उसने उपनिषदों में ईश्वर की एकता के सिद्धान्त का सार पाया और उसे यह विश्वास हो गया कि कुरान में जिस 'हिडनबुक'—'उम्मुल किताब'—का जिक्र है, वह उपनिषद् से ही लिया गया है, क्योंकि उनमें एकता का सार है और उनमें वे रहस्य हैं, जो छिपाए रखने के लिए हैं। उसने 'मजिनाउल-बहारैन' में हिन्दू-धर्म और इस्लाम इन दो विचारधाराओं को मिलाते हुए एक पुस्तक भी लिखी।

एक शताब्दी के बाद एक फ्रेंच विद्वान अंकतिल दुपरॉन (Anquetil Duperron) ने इस फारसी अनुवाद को फ्रेंच और लेटिन में रूपान्तरित किया। लेटिन रूपान्तर १८०१-२ में प्रकाशित हुआ। इस लेटिन अनुवाद के कारण, शापनहॉर, शैलिंग और उनके अनुयायी उपनिषदों की शिक्षा से परिचित हो सके।

: ८ :

मुगल-शासन के समय यूरोपीय राष्ट्रों में भारत के बाजार के लिए संघर्ष शुरू हो गया था। वास्कोडिगामा ने भारत पहुंचने का समुद्र-मार्ग खोज लिया और वह १४९८ में भारत पहुंच गया था। सन् १५०९ में पुर्तगालियों ने गोआ पर अपना आधिपत्य जमा लिया। कुछ शताब्दियों तक पुर्तगाली, स्पेनिश, डच, फ्रेंच और अंग्रेजों के बीच, भारत के शोषण के लिए, संघर्ष चलता रहा और १८ वीं शती के अन्त में अंग्रेज ही प्रमुख शक्ति के रूप में रह गये।

देश की समृद्धि, सहिष्णुता और भारतीय धर्म की गहराई तथा स्थानीय जनता पर उसके गहरे प्रभाव के कारण भारत में ईसाई मत का प्रसार कठिन हो गया। कुछ विवेकशील ब्रिटिश शासक भारत के अतीत से प्रभावित हुए। वारेन हेस्टिंग्स के प्रोत्साहन से चार्ल्स विल्किंस ने भगवद्गीता का अंग्रेजी में अनुवाद किया, जिसकी भूमिका स्वयं वारेन हेस्टिंग्स ने लिखी। भूमिका में उन्होंने कहा कि भगवद्गीता

जैसे ग्रन्थ भारत में अंग्रेजी राज्य की समाप्ति के बाद, जब इस देश में अंग्रेजों की सत्ता और साधन केवल स्मृति मात्र बनकर रह जाएंगे, भी चिरकाल तक जीवित रहेंगे।"

ईसाई मत के संसर्ग के कारण हिन्दुओं में धार्मिक चेतना जाग्रत हुई। हिन्दू, मुसलमान और ईसाई धर्मों की मौलिक एकता का दर्शन करनेवाले राजा राममोहन राय (१७७२-१८३२) सर्वप्रथम भारतीय थे। उन्होंने उस सामाजिक व्यवस्था की निन्दा की जो जातपात, पुराने रीति-रिवाजों और अन्ध-विश्वासों का पोषण करती थी। हिन्दूधर्म में शताब्दियों से जो दोषपूर्ण विचार तथा प्रथाएं आ घुसीं थीं, उनके विरुद्ध उन्होंने आन्दोलन किया और कहा कि वे वैदिक और पौराणिक विचार परम्परा के प्रतिकूल हैं। उन्होंने कहा है कि "यद्यपि वेदों में उन लोगों के लिए जो अदृष्ट, निराकार परब्रह्म का ध्यान करने में असमर्थ हैं, मूर्तिपूजा की स्वीकृति दी गयी है, तथापि वैदिक साहित्य में मूर्तिपूजन और तत्संबन्धी रीतिरिवाजों के विरुद्ध स्थान-स्थान पर कहा गया है तथा दृढ़ धार्मिक प्रणाली के पक्ष में विचार व्यक्त किये गए हैं।"[२७] सन् १८२८ में उन्होंने ब्रह्मसमाज की स्थापना की, जो आस्तिक लोगों की संस्था थी और जिसके द्वार सभी धर्मों और जातियों के लिए खुले थे। वेदों और उपनिषदों पर आधारित युक्तियुक्त ईश्वर-वाद का उन्होंने प्रतिपादन किया। मूर्तिपूजा और जातपात का उन्होंने तीव्र विरोध किया। हिन्दू-पक्ष का समर्थन देवेन्द्रनाथ टैगोर ने और ईसाई प्रभाव का समर्थन केशवचन्द्र सेन ने किया। जैसे ही हिन्दूमत उदार और सुधारोन्मुख हुआ, ब्रह्मसमाज उसमें विलीन हो गया। सभी धर्मों की आधारभूत एकता ही ब्रह्मसमाज की संपूर्ण गतिविधि का लक्ष्य था।

दयानन्द सरस्वती (१८२४-१८८३) द्वारा संस्थापित आर्य-समाज का ध्येय हिन्दू-धर्म में सुधार था। उन्होंने घोषणा की कि वेद

---

[२७] **मोनिएर विलियम्स** (Monier Williams) **'ब्राह्मनिज्म एन्ड हिन्दुइज्म'—पृष्ठ ४८१**

एकेश्वरवाद की शिक्षा देते हैं और उन्होंने बाल-विवाह, जातपात और अन्य सामाजिक बुराइयों के विरुद्ध आन्दोलन किया। दयानन्द ने हिन्दू-समाज के विभिन्न दलों को एक करने का प्रयत्न किया।

रामकृष्ण परमहंस (१८३६-१८८६) उपनिषदकालीन ऋषियों की सीधी परम्परा में थे। उन्होंने कहा कि "जब मैं परम सत्ता को ऐसी निष्क्रय शक्ति के रूप में देखता हूं जो न उत्पादक है, न रक्षक है और न संहारक है—मैं उसे ब्रह्म अथवा पुरुष अर्थात् अतिवैयक्तिक ईश्वर कहता हूं। जब मैं उसे सक्रिय, उत्पादक, रक्षक और संहारक के रूप में देखता हूं तो उसे वैयक्तिक ईश्वर, शक्ति, माया अथवा प्रकृति कहता हूं। किन्तु इन दोनों में जो अन्तर है, वह वास्तव में भेदमूलक नहीं। वैयक्तिक और अतिवैयक्तिक उसी प्रकार एक ही सत्ता है जैसे दूध और उसका श्वेत वर्ण, अथवा हीरा और उसकी चमक अथवा सर्प और उसकी वक्रगति—इनमें से किसी एक की दूसरे के बिना कल्पना असंभव है। दैवी माता (मां दुर्गा) तथा ब्रह्म वास्तव में एक ही हैं।"[२८] वे कर्म और मानव सेवा के पक्ष में हैं। वे कहते हैं—"क्या आप प्रभु की खोज में हैं? तो उसे मानव में ढूंढिए। देवत्व किसी भी अन्य वस्तु अथवा जीव की अपेक्षा मानव में अधिक प्रकट हुआ है।"[२९] उनके मतानुसार सभी धर्मों में सत्य की खोज में ही मानव मन के दर्शन होते हैं। विभिन्न धर्मों के सम्बन्ध में अपने निजी अनुभव के आधार पर उन्होंने इस सत्य की पुष्टि की थी।

स्वामी विवेकानन्द (१८६३-१९०२) ने समाज-सेवा पर ज़ोर दिया और संसार के विभिन्न भागों में रामकृष्ण मिशन की स्थापना की।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर (१८६१-१९४१) ने हिन्दू और बौद्ध, दोनों ही भारतीय ग्रन्थों से प्रेरणा प्राप्त की। पश्चिमी सभ्यता से

---

[२८] रोमां रोलां (Romain Rolland)—'दि लाइफ ऑफ रामकृष्ण' (१९५४)—पृष्ठ १३८

[२९] वही, पृष्ठ १९८

प्रभावित भारत के लोगों ने जब अपनी सांस्कृतिक विरासत को भुला दिया था, तब रवीन्द्रनाथ टैगोर ने दृढ़तापूर्वक कहा कि भारतीय मानस पर पश्चिमी शिक्षा छा गयी है और "सत्यों के इस नये संयोग से एक नयी विचार-शक्ति के सृजन के महान अवसर को वह अवरुद्ध करती है या समाप्त कर देती है।" "जैसे चेतनायुक्त पदार्थ हमारे शरीर के चेतन-तंतुओं को आत्मसात कर लेते हैं" उसी तरह एक विशुद्ध प्रकार की शिक्षा नव तत्वों को आत्मसात् कर लेती है। वे अन्त में कहते हैं—"पश्चिमी देश जिस प्रकार उन्नति कर रहे हैं, उसी रास्ते पर चलकर भारत यूरोप नहीं बन सकता, वह केवल विकृत भारत बन जाएगा।[३०]

फरवरी २५, १९१४ को रवीन्द्रनाथ टैगोर ने अपने एक मित्र को लिखा था—

"मैं किसी धर्म या संप्रदाय को नहीं मानता और न ही मैं विशेष मत का पोषक हूं। मैं केवल इतना जानता हूं कि जिस क्षण मेरे भगवान ने मुझे पैदा किया, वह मेरा बन गया। वह जीवन के विविध अनुभवों द्वारा मेरी आत्मा के विकास के लिए सतत प्रयत्नशील है और संसार के विभिन्न तत्वों और उसके सौंदर्य को वह उसमें लपेट लेता है। यह तथ्य ही कि मेरा अस्तित्व है, प्रेम का अमर वरदान है।"[३१] वे कहते हैं :—

"जिस प्रकार गुलाब का काम अपनी सब पंखुड़ियों को फैलाकर उनकी भिन्नता को बताना है, मानवता का गुलाब भी तभी पूर्ण माना जा सकता है, जब विभिन्न जातियां और राष्ट्र अपने विभिन्न रूपों को प्रकट करें, किन्तु सभी प्रेम-बन्धन के द्वारा मानवता के मूल से बंधे रहे हैं।"[३२]

---

[३०] लॉर्ड रोनाल्डशे (Lord Ronaldshay)—'दि हार्ट ऑफ आर्यावर्त' (१९२५)—पृष्ठ ६०

[३१] परिशिष्ट : 'विंग्स ऑफ डैथ,' दि लास्ट पोयम्स ऑफ रवीन्द्रनाथ टैगोर, अरविन्द बसु द्वारा बंगला से अनूदित (१९५९)।

[३२] 'माई इन्टरप्रिटेशन ऑफ इंडियन हिस्ट्री"

उपनिषदों की भाषा में वह उस परब्रह्म के सम्बन्ध में अति-वैयक्तिक और वैयक्तिक दोनों ही रूप से कहते हैं—"मैंने बार-बार अपने भगवान को पुकारा है और उसने साकार और निराकार, भोग और त्याग दोनों ही रूपों में अपनेको प्रकट किया है। मानवात्मा व्यक्त और अव्यक्त रूप से अपना दर्शन कराती है। मैं उस जगत् में रहना चाहता हूं, जहां आत्मा अमर है। यही कारण है कि तंग और संकुचित बन्धनों के होते हुए मैं परब्रह्म को प्राप्त करने के निजी प्रयास को सतत रूप से जारी नहीं रख सकता। अमरत्व केवल वहां बसता है, जहां आत्मा परमात्मा या विश्वात्मा में बसता हो। जब भी हम उस परमात्मा से अलग होकर केवल अहं की ओर जाते हैं, हमारा मनुष्यत्व ग्रसित हो जाता है।[३३]"

विभिन्न तत्वों का संयोग ही हमारे भारत की आत्मा है, जो इस देश में व्याप्त है। जब उसमें आत्मसात करने का यह गुण नहीं रहा, वह स्वयं नष्ट होने लगी। इस प्रकार महात्मा गान्धी ने (१८६९-१९४८) हमें अपने द्वार खोल देने को कहा, जिससे सब ओर से विश्व में जो हवाएं बहती हैं, उनका प्रवेश हो सके, पर साथ ही उन्होंने उन तेज़ हवाओं में दृढ़ रहने को भी हमसे कहा। वह एक धार्मिक पुरुष थे। अपनी आत्मकथा में उन्होंने लिखा—"इन तीस वर्षों में जिस वस्तु की खोज के लिए मैं उत्सुक और यत्नशील हूं, जो मैं पाना चाहता हूं, वह है आत्म-ज्ञान, ईश्वर का साक्षात् दर्शन, मोक्ष। मैं इसी सत्य की खोज के लिए जीता हूं और यत्न करता हूं। जो कुछ भी मैं बोलता हूं, लिखता हूं या राजनीति के क्षेत्र में भी मैं जो कुछ कार्य करता हूं, सभीका लक्ष्य इसी उद्देश्य की प्राप्ति है।" "मैंने अभी तक उसे प्राप्त नहीं किया, किन्तु मैं उसकी खोज में हूं।" उन्होंने कर्म द्वारा मोक्ष के आदर्श की प्राप्ति के लिए गीता पर जोर दिया है। वह हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए जिए और मरे। उन्होंने कहा कि "हिन्दू-मुस्लिम एकता का सच्चा रूप प्रत्येक का

---

[३३] **पृष्ठ-८८ का फुटनोट : 'विंग्स ऑफ डैथ,' दि लास्ट पोयम्स ऑफ रवीन्द्रनाथ टैगोर, अरविन्द बसु द्वारा बंगला से अनूदित।**

अपने-अपने धर्म के प्रति सच्चे रहते हुए भी एक दूसरे के प्रति सच्चे रहना है।"[३४]

मृत्यु के कुछ दिन पूर्व ही सन् १९४८ में गांधीजी ने सांप्रदायिक झगड़ों की समाप्ति के लिए उपवास किया और भाईचारे तथा आपसी सहयोग के लिए सबसे प्रार्थना की—"भारत के क्षीण होते हुए प्रभाव और, एशिया ही नहीं, बल्कि, संसार के देशों के दिलों से तीव्र गति से लुप्त होते हुए सांस्कृतिक साम्राज्य की पुनर्स्थापना ही इसका पुरस्कार होगा। मैं यही समझकर दिल बहला लिया करता हूं कि भारत की आत्मा का हनन पीड़ित, झंझावातग्रस्त और भूखे संसार की आशा का' हनन होगा।'

उन्होंने अपनी प्रार्थना-सभाओं में सब धर्मों के ग्रन्थों का उपयोग किया। आज भी भारत के लोग अपनी आत्मा के संतोष के लिए सब धर्म-ग्रन्थों का उपयोग करते हैं।

भारत के ये सभी धार्मिक नेता—राममोहन राय, रामकृष्ण, रवीन्द्रनाथ टैगोर और गांधीजी सब धर्मों को माननेवाले विश्व के नागरिक हैं, वेदों की भाषा में 'विश्वमानव' हैं। अपने इतिहास में भारत ने बराबर आत्मा की मुक्ति और हृदयों के मिलन के लिए यत्न किया। भारत विभेदों को अस्वीकार नहीं करता, अपितु आधारभूत सादृश्य खोजता है। जो बाहर के लोग यहां रहने के लिए आये, भारत ने उन्हें विदेशी नहीं माना और उनके रीति-रिवाजों की हँसी नहीं उड़ाई, किन्तु उन सबको मान्यता दी। भारत ने उन लोगों के जीवन में प्रवेश किया और स्वयं बाह्य तत्वों को आत्मसात् किया। जब नये विचारों का उदय होता है, पुरानी परम्पराओं का तिरस्कार नहीं किया जाता, बल्कि व्याख्या के रूप में उनका आदर किया जाता है। भारत ने एकरूपता की चाह कभी नहीं की। अथर्ववेद के 'पृथिवीसूक्त' में एक स्थल पर कहा गया है कि पृथ्वी माता है, जो विभिन्न भाषा-भाषियों, विभिन्न धर्मावल-

---

[३४] 'सिलेक्टेड राइटिंग्स' (१९५१)—पृष्ठ १६६

म्बियों को जन्म देती है और समान भाव से दूध पिलाकर सबका पोषण करती है।"[३५]

: ९ :

पूर्व और पश्चिम अर्थात् प्राचीन भारत और प्राचीन यूनान को जोड़नेवाली कड़ी ईरान था। ईरान की प्राचीनतम साहित्यिक कृति अवेस्तन-गाथा है, जिसमें ज़रथुश्त की सूक्तियां संग्रहित हैं। यदि हम यह स्वीकार करें कि इनका संरक्षक कवि विष्टस्पा दारा प्रथम का पिता हिस्टस्वस था तो ज़रथुश्त का जन्म ईसापूर्व ७ वीं शती में माना जाएगा। एक और मत के अनुसार मज़दका जैसे मेदियन नामों के आधार पर, जो ईसा से ८ वीं शती पूर्व के असीरियन आलेखों में मिलते हैं, इनका जन्म ईसा से ९०० या १००० वर्ष पूर्व भी समझा जाता है। ऋग्वेद की सबसे पहली ऋचाओं में ऐसे संदर्भ हैं, जो इन्डो-आर्यन या इन्डो-यूरोपीय काल की याद दिलाते हैं। प्राक् ज़रथुश्त लोग वेरेथरघ्न, मित्र, अपम नपत, ऐर्यमान, असुर और वायु जैसे प्रकृति-देवताओं की पूजा करते थे। उनकी धारणा थी कि अक्ष नामक दैवी व्यवस्था से संसार चलता था। धर्म कर्मकाण्ड-प्रधान था।

ज़रथुश्त ने धर्म को जातिगत देवता की संकीर्णता से मुक्त किया और इने-गिने लोगों के भगवान को उन्होंने सबका भगवान बना दिया। उन्होंने पवित्र पूजन का विधान किया, जिसमें पशुवध को स्थान नहीं दिया गया। इस प्रकार शोणित वेदी के स्थान पर शुद्ध वेदी की स्थापना हुई। अहूरमज़दा एकमात्र भगवान है, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और सर्व-व्यापक। अहूरमज़दा जड़ और चेतन जगत् का स्वामी है। संसार में इन दोनों सिद्धान्तों में अर्थात् पाप और पुण्य में संघर्ष है। अहूरमज़दा बुद्धि-मान स्वामी, अंगमन्यु अर्थात् पापाधार का विरोधी है। पाप की शक्तियों की पराजय होगी, किन्तु मानव को स्वयं अपने लिए निश्चय

[३५]—१२।१।४५

करना है और अपने कर्म का फल स्वयं भोगना है। "तुममें से किसीको भी पाप-मार्गियों की बात पर ध्यान नहीं देना चाहिए।"[३६] जरथुस्त ने कर्मकाण्ड की बजाय सद्विचार, सत्कर्म और सद्वचन पर जोर दिया।[३७] वेद और अवेस्ता में मन्दिरों और मूर्तियों के लिए स्थान नहीं। अग्नि प्रज्ज्वलित रखना और यज्ञ अथवा यस्न करना प्रत्येक गृहस्थी का कर्तव्य है।

जरथुस्त के धार्मिक सुधारों ने संसार की सभ्यता के विकास में ईरान को एक विशिष्ट शक्ति प्रदान की। कुछ ईरानी विश्वासों के चिन्ह आज भी ईसाइमत, इस्लाम, नास्तिकवाद (ग्नोस्टिसिज़्म) और मेन्दीनिज़्म धर्मों में पाए जाते हैं। अपने पूर्व-प्रभाव के साथ मनीशीज़्म, अल्बीसीज के दिनों तक रहा। मित्रवाद रोमन साम्राज्य में फैल गया और वह निर्विवाद रूप से वहां उदीयमान ईसाई धर्म का सबसे बड़ा प्रतिद्वन्द्वी माना गया।[३८] "मित्रवादियों की बहुत-सी रहस्यपूर्ण क्रियाएं ऐसी हैं, जो आरफिक और डियोनिजियक संप्रदायों की याद दिलाती हैं। किन्तु बाद में आनेवाले ईसाई धर्म में वह समानता और भी अधिक मिलती है। इन समानताओं में प्रमुख रूप से जिनपर ध्यान गया है, वे हैं—भाईचारे के विचार का उपयोग, दीक्षा द्वारा शुद्धि, ईसा मसीह के भोज में सम्मिलित होना, २५ दिसम्बर के दिन अवतार का जन्म, स्वर्ग और नरक की कल्पना, इतिहास के आरम्भ में बाढ़, आत्मा की अमरता, अन्तिम न्याय, मृतकों का पुनर्जन्म, त्रिमूर्ति में से एक बीच-बचाव करनेवाले का होना, इत्यादि।"[३९] जब कांस्टें-

---

[३६] वाइ-एस. ३१।१८

[३७] ह्यूमातेम, ह्यूकतेम, ह्वार्षतेम (Humatem, Hukthema, Hvarshtem)

[३८] देखिए—पृष्ठ १-२ क्लेमेंट ह्युअर्ट (Clement Huart) 'एन्शन्ट पर्शिया एन्ड ईरानियन सिविलिजेशन' (१९२७)

[३९] जेम्स के. फीबलमैन : (James K. Feibleman) 'रिलिजियस प्लेटोनिजम' (१९५९), पृष्ठ १४१ : फ्रेंक क्यूमोंट : 'दि मिस्टरीज ऑफ मित्र' (१९५६)—पृष्ठ १९०, भी देखिए।

टाइन ने रोमन साम्राज्य में ईसाईमत की राजकीय धर्म के रूप में घोषणा की, तब मित्रवाद का दमन किया गया और वह क्षीण हो गया, यद्यपि जूलियन (३३१-३५३ ईस्वी) के अधीन उसका एक बार अस्थायी उदय हुआ।

आज भी प्राचीन ईरान की आत्मा मरी नहीं है। इस्लाम ने अपनेको ईरानी जीवन-धारा के अनुकूल बनाया और सूफ़ी-आन्दोलन का विकास किया।

सन् १९३५ में फारस ने अपना नाम बदलकर 'ईरान' रक्खा, जिसका 'आर्यन' शब्द से सम्बन्ध है। यह यहूदी लोगों के साथ जातीय भेद को स्पष्ट करने के लिए किया गया था। ईरान मुस्लिम देश है, किन्तु अरब नहीं।

: १० :

वास्तविक यूनानी मानस स्वच्छ, संतुलित और वैज्ञानिक था। चाहे वह साहित्य हो, ललित कलाएं, राजनीति या इतिहास हो, यूनानी मस्तिष्क ने यथार्थता, और अनुपात को ही सर्वोपरि माना और अनन्त तथा असीम को गौण स्थान दिया। आधुनिक विज्ञान और जीवन के प्रति उसका यथार्थवादी दृष्टिकोण इस यूनानी भावना का एक सतत क्रम है।

पैथागोरस, प्लेटो और रहस्यवादी धर्म यूनानी चिन्तन में एक भिन्न धारा के परिचायक थे। वे उस भौतिक पूर्णता से, जो स्थूल है और जो मानव-प्रयत्न से उपलब्ध हो सकती है, सन्तुष्ट नहीं थे। वे उस अलौकिक जगत के अन्वेषक थे, जिसका निर्माता ईश्वर है। रहस्यवादी धर्मों में आध्यात्मिक जगत उन लोगों के लिए एक अनुभवगम्य तथ्य था, जिन्होंने उसके लिए अभ्यास किया था। प्लेटो में हमें दो विचार-धाराएं मिलती हैं, प्रकृतिवादी और आदर्शवादी। प्रथम धारा यूनानी धार्मिक परम्परा के अनुकूल है।

आदर्शवादी विचारधारा में आर्फिक प्रभाव प्रमुख रहा है।

ईश्वर "सभी विद्यमान वस्तुओं के प्रारम्भ, अन्त तथा मध्य का आधार है।"[४०] "ईश्वर सब वस्तुओं का परिमाण है।" "आत्मा अमर है।"[४१] जैसे शरीर के जन्म से पहले इसका अस्तित्व था, वैसे ही बाद में भी रहेगा।[४२] जब मनुष्य मरते हैं तो केवल उनके शरीर का अन्त होता है।[४३] आत्मा ही विवेक है, जो सारथी के समान दो घोड़ों को चलाता है, जिनमें से एक अनुशासित भावनाओं का और दूसरा अनुशासनहीन रागों का प्रतिनिधि है।[४४] आर्फिज़्म की कुछ शाखाओं में अवतारों और धर्म-शास्त्रों का भी विधान है। देवता कष्ट उठाता है, मरता है और कीर्ति के साथ उदित होता है। आस्थावान मौलिक पाप से मुक्त हो जाता है। पुनर्जन्म एक रहस्य है और मृत्यु के बाद परमात्मा से मिलन होता है। पवित्रता और तपश्चर्या जीवन का विधान है। जीवन एक दुःखदायी स्थान है, जिसकी यात्रा आत्मा को अपनी शुद्धि के लिए करनी होती है।[४५]

'गोर्जिआस' में प्लेटो ने कहा है, "संभव है युरिपिडीस का यह विचार ठीक हो कि जिसे हम मृत्यु कहते हैं वह जीवन हो और जिसे जीवन कहते हैं वह मृत्यु।"[४६] 'एपिनोमिस' संभवतः, प्लेटो द्वारा वृद्धावस्था में लिखा गया था या हो सकता है, यह पूर्वकालीन यूनानी प्रक्षेप हो। इसमें जीवन और संसार की निन्दा की गयी है और ज्ञान के स्थान पर प्रज्ञा की खोज की गयी है।[४७]

---

[४०] 'लॉज'—७१५-ई

[४१] 'लॉज' ७१६-सी

[४२] 'रिपब्लिक'—६११-ए

[४३] 'गोर्जिआस' (Gorgias) ५२४-बी

[४४] 'फेड्रस' (Phaedrus) २४५-बी

[४५] ए. बाउलेंजर (A.Boulanger) : आर्फी (१९२५)-पृष्ठ ११

[४६] ४९२-ई

[४७] प्रो. ए. सेठ प्रिंगल पेटिसन (Prof. A. Seth Pringle-Pattison) ने कहा है : "जिसे हम यूनानी भावना समझते हैं, आर्फिज़्म उसके विरुद्ध है,

ईसा-पूर्व ३२७ में सिकन्दर महान सिन्धु नदी तक जा पहुंचा। यद्यपि पंजाब में दस वर्ष के बाद ही यूनानी सत्ता का लोप हो गया, सिकन्दर की सेना के लोग और उनके वंशज उत्तर भारत में ही बस गए।

सिकन्दर की विजयों के फलस्वरूप मिस्र के यूनानीकरण के समय से ऐलेक्जांड्रिया, भारत और पश्चिम के मध्य आदान-प्रदान का केन्द्र बन गया। सिकन्दर के समय के पश्चात् यूनानी लेखकों ने भारतीय मनीषियों, साधुओं और चिन्तकों का उल्लेख किया है।

रोमन मानस बहुत ही व्यवहार-कुशल था। जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण उपादेयतावादी था और वह संसार को रहने योग्य स्थान मानता था। इस विचारधारा का यूनानी जितेन्द्रियता के सम्मिश्रण से मार्क्स ओरिलिअस का जन्म हुआ। यह एक अपवाद है जो इस नियम को सिद्ध करता है कि रोमन-मानस ऐहिक विषयों पर विचार केन्द्रित करता था और उसका आध्यात्मिक दृष्टिकोण सीमित था।

: ११ :

यहूदियों ने रोमन-संसार में प्रवेश किया। उनके साहित्य से हमें पता लगता है कि पैगम्बरों और ऋषिओं को छोड़कर उनकी विचारधारा कुछ सीमित थी। मोज़ेज़ ने ऐसे एकेश्वरवाद की नींव रक्खी, जिससे पाश्चात्य सभ्यता को एक विशेष रूप मिला।[४८] प्रारम्भ में यह एकेश्वर-वाद अन्य देवताओं के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं करता था। यहूदी विशेष श्रेणी के लोग थे, क्योंकि ऐसा माना जाता था कि प्रकृति की

और प्लेटो के प्रभाव के अन्तर्गत वह परवर्ती धार्मिक विचारधारा का एक महत्वपूर्ण अंग बन चुका है।"

—स्टडीज इन दि फ़िलोसफ़ी आफ़ रिलिजन (१९३०),–पृष्ठ २११

[४८] शताब्दियों पूर्व मोजेज, इजिप्ट के राजा इरवनातोन ने आतोन के विषय में कहा था—"ओ सर्वशक्तिमान प्रभु, और किसीमें ऐसी शक्ति नहीं, तूने अपनी इच्छानुसार, जब तू अकेला था, इस सृष्टि की रचना की।"

शक्तियों से परे विशुद्ध रूप में ईश्वर की कल्पना करनेवालों में वे सर्व-प्रथम थे। विद्यमान जगत के आदि रूप में उन्होंने एक विचित्र और रहस्यमय सर्वोपरि एकता का अनुभव किया। "हे इज़राईल, सुनिए। याहवेह हमारा ईश्वर है, याहवेह एक है।"[४९] उनके समकालीन जो गुण तथा उद्देश्य अन्य देवों में आरोपित करते थे, वे सब उन्होंने इस एक ईश्वर में समाहित कर दिये। कुछ पैगम्बरों ने ईश्वर की सार्वभौमिकता को स्वीकार किया। पैगम्बर आमोस ने ईश्वर से कहलवाया है : "इज़राईल के बच्चो, क्या तुम मेरे लिए इथिओपिअनों के बच्चों के समान नहीं हो ? क्या इज़राईल को मैंने मिस्र की भूमि से, फिलिस्तीन को कैफ्टर से और सीरियनों को कीर से प्राप्त नहीं किया है ?

मलाची कहता है, "क्या हम सबका एक पिता नहीं है ? क्या हमें एक ही ईश्वर ने पैदा नहीं किया है ? तो फिर हम क्यों एक दूसरे के प्रति सच्चे नहीं ?"[५०] हम दैवी वास्तविकता को मानते हैंऔर इसलिए हमें यह समझना चाहिए कि हम सब एक परिवार के सदस्य हैं और हमें सदा एक दूसरे का साथ देना चाहिए।

यहूदी लोगों से कहा गया था—"तुम लोग अपने लिए किसी भी प्रकार की मूर्ति अथवा प्रतिमा का निर्माण नहीं करोगे।" हमें स्वयं अपने भीतर से उस बात को खोजना है, जो हमें बाह्य प्रकृति से कभी नहीं मिल सकती। उन्हें प्रकृति से दूर, आकाश की ऊंचाई की ओर अपने दिलों को ले जाने के लिए कहा गया था, क्योंकि वहां ईश्वर मानव की अन्त-रात्मा से बातें करता है। मोज़ेज़ ने दस आदेश दिये, जिससे हमें पाप-पुण्य की पूरी परख मिली। उनकी दृष्टि जातीय और वंशीय देवताओं के अनुभवों से ऊपर थी। उन्होंने नैतिक स्वाधीनता और दायित्व का विधान किया। कर्त्तव्यों की कल्पना यहूदी लोगों तक ही सीमित नहीं।

यहूदियों का ईश्वर, पूर्णरूप से रुचिवान है और मानव तथा प्रकृति के साथ क्या घटता है, उसमें उसकी बड़ी दिलचस्पी है। यहूदी प्रत्येक

[४९] दीतरोनोमी (Deuteronomy) ६।४

[५०] २।१०

धार्मिक अनुभूति तथा तत्व के प्रकाश में देखते हैं। धर्म यहूदियों के राष्ट्रीय जीवन से विलग नहीं है। इसकी असफलताओं तथा कष्टों का कारण वे समाज में ईश्वरीय विधान को कार्यान्वित करने की मानवीय असमर्थता को मानते हैं। संपूर्ण जीवन और अस्तित्व को आपसी सम्बन्ध और पारस्परिकता के ऐतिहासिक क्रम के रूप में देखते हैं।

यहूदी धर्म में रहस्यवादी प्रवृत्तियों का उदय हुआ। साइमन बिन योहाद (दूसरी शताब्दी) ने पेन्टाट्यूश (Pentateuch) पर एक टीका लिखी, जिससे नव-प्लेटोवाद का पता लगता है। कबल्ला के बाद के साहित्य में विचारों को ईश्वर के मन में उदित भावना माना गया है। संसार की सृष्टि ऐसी क्रमिक भावनाओं से हुई है और दोषपूर्ण शरीर पाप का मूल है। मेमोनाइडीज़ (१२वीं शताब्दी) ने अरस्तू के विवेचन और यहूदी शास्त्रों में दिये गए दैवी उपदेशों के मध्य सामंजस्य स्थापित करने का यत्न किया। यूनानियों ने विवेक-बुद्धि की खोज का प्रयास किया और रोमन लोग न्याय के सिद्धान्तों को खोजते रहे। पैगम्बरों और सन्तों ने ईसाई मत को आध्यात्मिकता प्रदान की।

संभवतः यहूदी मत ने पारसी धर्म से पुनर्जन्मवाद ग्रहण किया, जिसके अन्तर्गत शरीर और आत्मा का पुनर्मिलन होता है, जिससे कि पूर्ण-पुरुष अपने सांसारिक जीवन में किये हुए कर्मों के लिए पुरस्कार अथवा दंड प्राप्त करने के हेतु ईश्वर के सामने उपस्थित हो सके। यहूदियों, ईसाइयों और मुसलमानों ने जिस यूनानी दार्शनिक विचारधारा को लिया वह मिस्र की नहीं, यूनान की थी, किन्तु उसका उद्‌गम स्थान एथेन्स नहीं, एलेक्ज़ाण्ड्रिआ था। बाइबल का यूनानी भाषा में अनुवाद यहूदी विद्वानों ने ऐलेक्ज़ाण्ड्रिआ में किया था। नव-प्लेटोवाद का आरंभ तब हुआ जब यूनानी मुक्तिवाद का द्वार यहूदियों के लिए खुल गया। नव-प्लेटो-वाद का प्रमुख प्रवर्तक फीलो था। बाइबल का यूनानी भाषा में अनुवाद यहूदी विद्वानों ने ऐलेक्ज़ान्ड्रिआ में किया था। नव-प्लेटोवाद प्लेटोवाद से भिन्न है, क्योंकि इसमें आकाशवाणी को विवेक से ऊपर माना गया है। आस्था को सर्वोपरि कहा गया है। प्लेटो ने ऐसा नहीं माना है। जहां

आस्था या विश्वास की निश्चितता हो वहां विवेचन को अनुमान करने की आवश्यकता नहीं। फीलो के लिए अंतिम सच्चाई वह है, जिसका यहूदी-शास्त्रों में निरूपण किया गया है। ससीम और प्रकृति में उसकी रुचि कम है। प्लेटो के अनुसार व्यक्ति का ध्येय मानव-समाज, विशेषकर यूनानी समाज, की सेवा है। नव-प्लेटोवादियों ने इस विश्वास को संसार-भर पर लागू कर दिया। फीलो के कथनानुसार उनके धार्मिक विश्वास विश्व-व्यापी बन गए। देश (पोलिस) समस्त विश्व बन गया।[५१] लोगस सार्वभौम विधि बन गया। फीलो ने यूनानी दर्शन और यहूदी धर्म को एक-दूसरे के अनुकूल बनाने का यत्न किया।

: १२

ईसाई धर्म का उदय शून्य से नहीं हुआ। यह स्पष्ट है कि पुराने 'टेस्टामेंट', कुमरान जाति, फारीसावाद और यहूदी धर्म की अन्य प्रवृत्तियों से इसका सम्बन्ध था। पुराने और नये 'टेस्टामेंट' के मध्यकाल में बहुत रचनाएं की गयीं, जिनका विषय सनातन यहूदी धर्म ही नहीं, बल्कि नव-संप्रदाय का उदय भी था।

यहूदी और ईसाई धर्म, दोनों दैवी इच्छा के उत्तराधिकारी हैं। जीसस ने सीनाई को अस्वीकार नहीं किया। उसने आग्रह किया कि किसी भी प्रचलित कानून की अवहेलना न की जाय और यह कहा कि इस व्यवस्था के रचयिता मोज़ेज़ के अनुयायी हैं और उनकी आज्ञा का पालन होना चाहिए। जब जीसस ने अपने अनुयायियों से पवित्रता, प्रेम और क्षमा के आदर्शों को अपनाने के लिए कहा तो उन्होंने सत्कर्म-सम्बन्धी औपचारिक विचारों की उपेक्षा की। संट पाल ने कहा, "हम यह उपदेश देते हैं कि ईसा ने यहूदियों के लिए, जो उसके मार्ग में बाधक थे, आत्म-बलिदान दिया, यूनानियों को मूर्खता दी और यहूदी तथा यूनानी कहलानेवालों को दैवी शक्ति और दैवी प्रज्ञा प्रदान की। कारण, दैवी मूर्खता मानव की बुद्धिमत्ता से श्रेष्ठतर है और दैवी दुर्बलता मानव की शक्ति से

---

[५१] डि जोसेफो—६।२८।३१

दृढ़तर है।'' इसके कारण तत्वों के मूल्य में बहुत अदला-बदली हुई। नये 'टेस्टामेंट' में दी गई प्रेम की परिभाषा से न्याय का यहूदी सिद्धान्त उपेक्षित हो गया,जो कर्मफल, मानव-पूर्णता के यूनानी आदर्श और रोमन विचार के अनुसार सुव्यवस्था पर आधारित हैं। हम पढ़ते हैं—'प्रेम द्वारा एक दूसरे की सेवा करो।' 'जो महानता की महत्वाकांक्षा रखता है उसे मानव-सेवा को अपनाना चाहिए'। 'बुराई के बदले में बुराई मत करो। बुराई के आगे अपने-आपको मत झुकाओ, बल्कि अच्छाई द्वारा बुराई पर विजय प्राप्त करो।' तेरहवें अध्याय में कोरिन्थिअन्स के निवासियों के नाम प्रेम की परिभाषा करते हुए पाल के प्रथम संदेश में हम पढ़ते हैं—'स्नेह कष्टों को सहन करते हुए दयावान रहता है, यह ईर्ष्या नहीं करता, डींग नहीं मारता, फूलकर कुप्पा नहीं हो जाता, अनुचित व्यवहार नहीं करता, स्वार्थी नहीं होता, साधारणतः उत्तेजित नहीं होता, बुराई का विचार तक नहीं करता, अनौचित्य से प्रसन्न नहीं होता, किन्तु सत्य से संतुष्ट होता है, सबकुछ सहन करता है, सब पर विश्वास करता है और सभी परिस्थितियों में आशावान रहता है।' बलिदान का सिद्धान्त (क्रौस) अर्थात् प्रतिशोध की भावना के बिना कष्ट सहने की असीम क्षमता, परम्परागत प्राचीन विचारधारा को अमान्य थी, किन्तु भारतीय चिन्तन इससे चिर-परिचित था। हिन्दू, बौद्ध और जैन धर्मों में अहिंसा को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। अदृष्ट वास्तविकता में विश्वास का यह युक्तिसंगत परिणाम है। लोगों का ध्यान अब असीम की ओर आकृष्ट हो गया था। 'जो दृष्टिगोचर है वह अस्थायी है, किन्तु जो अदृष्ट है वह शाश्वत है।' भारतीय दर्शन का यह केन्द्रीय सिद्धान्त रहा है।

ईसाई मत का आधार आन्तरिक अनुभूति है, जो ईस्टर से पेन्टिकास्ट तक की घटनाओं में प्रतिलक्षित है। पाल ने दमिश्क में जो दैवी स्वप्न देखा, उसके फलस्वरूप वे ईसाईमत के शत्रु न रहकर उसके महान समर्थक हो गए।[५२] वे यूनानी लोगों से सम्पर्क स्थापित कर सके

---

५२. द्वितीय कोरिन्थिअन्स, १२।२

जिनका अज्ञात ईश्वर में और मूर्तिहीन मंदिर में विश्वास था, क्योंकि उनकी विकसित कला भी उन्हें इस योग्य न बना सकी कि वे सर्वोपरि ब्रह्म के गुणों को अंकित कर सकें। सेंट पाल ने कहा, 'किन्तु साधारण पुरुष ईश्वरीय-भावना-सम्बन्धी वस्तुओं को ग्रहण नहीं कर सकता और न उन्हें जान सकता है, क्योंकि इनका ज्ञान अध्यात्म द्वारा ही हो सकता है।'[५३] पाइलेट ने प्रश्न किया था—"सत्य क्या है ?" किन्तु जीसस ने इसका उत्तर देने का यत्न नहीं किया, यद्यपि एक अन्य संदर्भ में उन्होंने कहा था, "मैं ही सत्य हूं। जो सजीव, आध्यात्मिक वास्तविकता के रूप में सत्य का अनुभव करता है, वह उसीमें लीन हो जाता है।"

रविवार के दिन प्रातःकाल एक शिष्य यह बताने के लिए जीसस के पास पहुंचा कि उसने एक किसान को उसकी भूमि को जोतते हुए पकड़ लिया है। "इस घोर पाप का क्या दण्ड होना चाहिए ?" कुछ देर सोचकर जीसस ने कहा—"यदि उस आदमी ने अनजाने में ऐसा किया है या अज्ञानवश ऐसा किया है तो उसे कड़ा दण्ड मिलेगा, किन्तु यदि उसने यह जानबूझकर किया है तो वह पुरुष धन्य है।" जो दैवी ज्ञान से अवगत है, वह ऐहिक अनुकूलता से ऊपर है।

बाइबल (लेजेन्ड) के अनुसार जब पीटर रोमन कारागार से भाग गया तो उसके अनुभव में आदेश अथवा अनिवार्यता नहीं बल्कि प्रेम और बौद्धिक तर्क था। उसके द्वारा अपने शिष्य को कहे गए जीसस के इन शब्दों की पुष्टि होती है: "अब से मैं तुम्हें भृत्य नहीं कहूंगा, अब मैंने तुम्हें मित्र माना है।"[५४]

सत्य एक रहस्य है, जिसे दृष्टान्तों द्वारा ही व्यक्त किया जा सकता है। सेंट मार्क जीसस से कहलवाते हैं—"ईश्वरीय साम्राज्य का रहस्य तुम्हें मिला है, किन्तु अन्य सब लोगों को इसका परिचय केवल दृष्टान्तों द्वारा

---

५३. प्रथम कोरिन्थियन्स—२।१४
५४. 'जॉन' १५।१५

मिलता है।"[५५] पीटर पूछता है—"प्रभु, क्या यह दृष्टान्त आप हमारे लिए कह रहे हैं अथवा सभी लोगों के लिए?"[५६]

इस नवीन धर्म में ऋचाओं और पैगम्बरों के उपदेश समाहित हैं। "ईसा का नया आदेश पुराना आदेश है, जिससे आरम्भ से ही तुम लोग अवगत हो।"[५७] महानतम यूनानी विचारक प्लेटो के विचार इसमें समाविष्ट हैं। उसकी रचनाओं को प्रेपरेशियो इवेंजलिका (Praeparatio evangelica) माना गया था। ईसाई विचारक असीम-सम्बन्धी अपने विचारों को प्लेटो की भाषा में व्यक्त करने लगे। यद्यपि रोमन साम्राज्य ने स्वाभाविक रूप से धर्म का उत्पीड़न किया, संसार के प्रति 'स्टोइक' दृष्टिकोण ने महान रोमन लोगों को अपनी ओर खींचा। यह नवसंदेश यहूदी पैगम्बरों, प्लेटो की कृतियों और स्टोइक विचारकों के संक्षिप्त सूत्रों की भाषा में प्रतिपादित किया गया।

सेंट पाल और सेंट जॉन ने प्रारंभिक ईसाई विचारधारा को यहूदी शास्त्रों के उन अध्यायों से, जिनमें कष्ट सहने की सार्थकता का उल्लेख है, और प्लेटो तथा स्टोइकों के आदर्शवाद से जोड़ दिया। नव विचारधारा का उत्कर्ष सेंट जान के उपदेश के प्राक्कथन में और उनके इस संदेश में मिलता है कि प्रेम ही ईश्वर है।

ईसाई उपदेशों में पूर्व के रहस्यवादी धर्मों का बौद्धिक वातावरण मिलता है। इसके फलस्वरूप पौरीफीरी और प्लौटिनस के अधीन ऐलेक्जान्ड्रिआ में प्लेटोवाद का उल्लेखनीय पुनर्विकास हुआ।

आगस्टाइन के विचारों में ईसाई मत के आगे हम परम्परागत प्राचीनता को मात खाते देखते हैं। उसने नये धार्मिक विचारों को शास्त्रीय अभिव्यक्ति दी, जिसे आज भी मान्यता प्राप्त है। ईश्वर की खोज में उसने मानवात्मा की असीम गहराइयों को स्पर्श किया और वहीं दिव्य शक्ति के वास्तविक प्रतिबिम्ब को पाने का यत्न किया।

---

५५ ४।११

५६ 'ल्यूक' १२।४१

५७ 'जॉन' २।७

बहुतों ने आगस्टाइन के रहस्यवाद का अनुसरण किया और ईश्वर की खोज में मानवीय आत्मा की गहराइयों को छूने का यत्न किया। वे कष्ट के साथ ऊपर चढ़े, किन्तु सफलतापूर्वक और उस शिखर पर पहुंचे, जहां शिवं और सुन्दरं के दर्शन होते हैं। जिस विशुद्धीकरण के साथ यह खोज आरंभ होती है, उसके फलस्वरूप निर्वाण ही उसके अपने ध्येय की प्राप्ति है। जो इस मार्ग का अनुसरण करते हैं, वे अपने व्यक्तित्व की आन्तरिक गहराइयों में पैठ अपनी आत्मा तथा परमात्मा के सन्बन्ध को जान लेते हैं। बेनिडिक्ट बर्नार्ड, एकेलार्ड, फ्रांसिस, दांते, टॉमस आकेम्पिस, ये सभी तत्वदर्शी विभिन्न उपायों से और विभिन्न परिमाण में मानवीय आत्मा में दैवी वास्तविकता की खोज का प्रतिनिधित्व करते हैं। ये सब दैवत्व को किसी भी प्रकार के साकार रूप देने की कल्पना से भयभीत होते हैं। सेंट टॉमस एक्विनास के अनुसार "बौद्धिक प्राणियों का अंतिम लक्ष्य ईश्वर-प्राप्ति है।" वे कहते हैं "युक्तियुक्त लक्ष्य का पूर्ण ज्ञान, लक्ष्य का अस्तित्व और आनन्द की अनभूति, जो प्रेमी और प्रेयसी के मिलन के तुल्य है, तीनों एक साथ रहते हैं।"[५८]

रहस्यमय आत्माएं प्राय: बौद्धिक तत्व की अवहेलना करती हैं और उससे घृणा करती हैं और आत्मा के मार्ग-दर्शन में उससे जो सहायता मिलती है, उसे नहीं समझतीं। सेंट पाल के अन्तरतम में भी भौतिक और आध्यात्मिक के बीच हमें स्थायी संघर्ष के लक्षण देखने को मिलते हैं। यह अनिवारित और अनिवारणीय भ्रम बहुत गहरा था। मध्ययुग में आत्मा और शरीर के मध्य यह परस्पर द्वन्द्व अदम्य उत्साह के साथ चलता रहा। इसके कारण अविश्वसनीय सिद्धांतों का जन्म हुआ, जो मानव के स्वास्थ्य-प्रद विकास में बाधक सिद्ध हुए।

रहस्यवादी आदर्शवाद का सच्चा रूप अविला के सेंट थेरेसा (१५१५-१५८२) के एक कथन में मिलता है—"अब संसार में तुम्हारा शरीर ही ईसा का शरीर है, तुम्हारे हाथ ही ईसा के हाथ, तुम्हारे पांव

---

५८ सुमा थियोलॉजिका १-ए, २ एई।४।३

ही ईसा के पांव और तुम्हारी आंखें ही ईसा की आंखें हैं, जिनसे वह इस सृष्टि को देखते हैं। तुम्हारे पावों से ही चलकर वे इधर-उधर जाते हैं और सत्कर्म करते हैं और तुम्हारे हाथों द्वारा ही जनगण को आशीर्वाद देते हैं।"

पश्चिम के विचारशील मानस ने इस पारलौकिक दृष्टिकोण के विरुद्ध विद्रोह किया और इस प्रकार नवजागरण का अभ्युदय हुआ। सांसारिक जीवन में पुण्य की संकल्पना को नवीन परिभाषा मिली। आधुनिक विज्ञान के आविष्कार, बौद्धिक विधि के अनुसार परीक्षण तथा निरीक्षण को अपनाकर और 'अन्धसिद्धान्त ज्ञान का स्रोत है' इस धारणा को त्यागकर ही संभव हो सके हैं।

पुराने टेस्टामेंट के अनुसार ओरिजेन कहता है—"यह उस स्थूल प्रतिमा के समान है, जो कलाकार द्वारा मूर्ति के निर्माण में आवश्यक है, पर उपयोगी नहीं। यह उस दीपक के समान है, जिसे सूर्योदय के बाद जलाए रखना मूर्खता है। स्पिनोज़ा ने अपने प्रयत्नों से यहूदी और ईसाई धर्मों को एक दूसरे के निकट किया। संदेश -७३ में उसने लिखा है—"मेरा विश्वास है कि मुक्ति के लिए सशरीर ईसा को जानना आवश्यक नहीं, किन्तु भगवान के अमर पुत्र अर्थात् ईश्वर के अनन्त ज्ञान को जानना आवश्यक है, जो सब वस्तुओं में—विशेषकर मानव के मन में और सबसे बढ़कर ईसा मसीह के मानस में—व्याप्त है। यह प्रज्ञा ही हमें सत्य और असत्य, अच्छे और बुरे का भेद बताती है। इसलिए इसके बिना निर्वाण की स्थिति को कोई प्राप्त नहीं कर सकता।

: १३ :

इस्लाम को हम अतिरिक्त रूप से विशुद्ध सर्वातिरिक्तता का प्रतिपादक नहीं कह सकते। मुहम्मद गहरे अनुभव के व्यक्ति थे। इसके कारण उनमें बरबस दृढ़ आत्मविश्वास जागा, जो उन्हें एक साधारण व्यापारी से पैगम्बर का रूप दे सका। इस्लाम में ज्ञानवान को ही सर्वोच्च

स्थान प्राप्त है। कुरान कहती है "ज्ञान स्वर्ग के मार्ग का दीपक है।" सूफी मत ने रहस्यवाद-सम्बन्धी बहुमूल्य साहित्य का सृजन किया।

महान अरब दार्शनिक, अल-किन्दी, जिनकी मृत्यु ८७० ई० में हुई, नव-प्लेटोवाद से बहुत प्रभावित हुए थे। उनके मतानुसार विश्वात्मा ईश्वर और संसार के बीच मध्यवर्ती है और इसका आविर्भाव सर्वप्रथम हुआ, जिससे कालान्तर में मानवीय आतमा का जन्म हुआ। अल-फ़राबी (मृत्यु ९५० ई०) ने कुरान की व्याख्या में नव-प्लेटोवाद के सिद्धान्तों का उपयोग किया। इब्न सिना (९८०-१०३७ ई०) अपने सार्वभौमिक सिद्धान्त के लिए प्रसिद्ध है। उनकी धारणा थी कि सार्वभौम तत्वों का अस्तित्व भौतिक जगत और मानव मन से स्वतंत्र है और उनका अस्तित्व ईश्वर के मन में है। अल-गजाली और आवरोस (१२वीं सदी) ने भौतिकवाद और इस्लामी इलहाम में सामंजस्य स्थापित करने का यत्न किया। अल-गजाली (१०५८-११२८ ई०) को यह विश्वास हो गया था कि रहस्यवादियों का मार्ग ही ईश्वरीय ज्ञान और अमरत्व की प्राप्ति का एकमात्र साधन है।

कुरान का कथन है कि अल्लाह ने क्रम से सभी पैगम्बरों को अपने स्नेह के अनुसार उपदेश दिया। "मोज़ेज़ और आरोन को ज्योति और प्रकाश दिया, ईश्वर-भीरुओं को चेतावनी दी।"[५९] "अब्राहम को उपदेश दिया, क्योंकि हम उसे इसके योग्य समझते थे।"[६०] "और हमने सोलोमन को भीतरी ज्ञान दिया और इन दोनों को (डेविड और सोलोमन को) बुद्धि और आत्मज्ञान दिया, हमने पर्वतों और पक्षियों को स्तुति में डेविड का साथ देने को कहा और सोलोमन को हमने पवन पर अधिकार दे दिया, जो उसके आदेश से प्रवाहित होकर, उस देश में बहने लगा। जहां हम अवतरित हुए थे।"[६१]

---

[५९] कुरान, २१।४९

[६०] कुरान, २१।५२

[६१] कुरान—२१; ७९, ८१—इस्लामिक रहस्यवाद के प्रामाणिक विद्वान प्रो. आर. ए. निकलसन ने हमें बताया है कि सूफी लोग विशुद्ध मानवीय

: १४ :

संस्था और रीति-प्रधान ईसाई मत के विरुद्ध प्रोटेस्टेंटवाद ने विद्रोह किया और यह मत प्रकट किया कि इस धर्म का आधार इलहाम या ईश्वरोक्ति है। ईश्वर और मानव के पारस्परिक सम्बन्ध का आधार बुद्धि और श्रद्धा हो सकती है। मानव आन्तरिक ज्ञान द्वारा ईश्वर को जान सकता है, और इस ज्ञान को मध्यस्थ अथवा संस्थाओं और धार्मिक रीतिरिवाजों की आवश्यकता नहीं। प्रोटेस्टेंटवाद के अपने विशेष रिवाज या पूजनप्रणाली नहीं। इसलिए इसका प्रभाव सहिष्णुता और धार्मिक उदारता के पक्ष में हुआ।

किन्तु इसके कारण ईसाईमत में अद्भुतता का एकदम लोप नहीं हो गया। सत्रहवीं और अठारहवीं शतियों में कैंब्रिज नव-प्लेटोवाद ने रहस्यवाद और अद्भुतवाद को ईसाई धर्म में फिर से समाविष्ट करने का यत्न किया।

अठारहवीं शती में प्रोटेस्टेंटवाद के फलस्वरूप सुधारवाद (इवैंजलिकलवाद) का पुनर्जन्म हुआ और इससे निर्धन-से-निर्धन व्यक्ति को रहस्यवादी श्रद्धा का सहारा मिला। जार्ज फाक्स और 'सोसाइटी आफ फ्रेन्ड्स' ने रहस्यवाद के क्षेत्र में एक और आन्दोलन का सूत्रपात किया। विलियम पैन लिखता है—"संन्यासी जीवन और अत्यधिक धार्मिक ढोंग प्रशंसनीय नहीं। . . . मंदिर मानव के हृदय में है, जहां आत्मा पाप से दूर निवास करती है। . . . सच्ची धार्मिकता मानव को संसार से दूर नहीं भगाती, बल्कि इसमें रहते हुए अच्छे जीवन की ओर

बुद्धि को सर्वप्रथम मेधा अथवा सार्वभौम प्रज्ञा के तत्सम मानते हैं, जो मोहम्मद के सदृश्य है। मोहम्मद को ईश्वरीय प्रकाश कहा गया है; उनका अस्तित्व सृष्टि की रचना से पहले का माना गया है; समस्त वास्तविक अथवा संभव जीवन के स्रोत के रूप में उनकी पूजा की जाती है; वे पूर्ण मानव हैं, जिनमें सभी दैवी गुण विद्यमान हैं, और एक सूफी-परम्परा के अनुसार मोहम्मद की यह उक्ति है 'जिसने मेरा दर्शन किया है, उसने अल्ला का दर्शन किया है'।

—दि मिस्टिक्स आॅफ इस्लाम, पृष्ठ-८२

प्रेरित करती है और उसे सुधार की ओर ले जाती है; यह दीपक को किसी कोने में छिपाकर रखने के पक्ष में नहीं अपितु सामने रखने के पक्ष में है।"[६२] क्वैकर लोगों का विश्वास है कि मतमतान्तर और रीतिरिवाज आध्यात्मिक ज्ञान के साधन हैं, किन्तु स्वयं ज्ञान नहीं। यह रहस्यवादी आन्दोलन जर्मनी और यूरोप के अन्य भागों में फैल गया।

श्लीरमाशर (Schleiermacher) ने धर्म की सर्वातिरिक्त एकता को ग्रहण किया। "धर्म में जितने गहरे आप उतरते हैं, उतना ही अधिक आपको यह आभास होगा कि संसार एक और अविभाज्य है।"[६३]

बोस्टन में यूनीटेरियन चर्च की स्थापना हुई और इसके नेता विलियम एलरी चैनिंग (१७८०-१८४२) ने एक 'सर्वोत्तम विचार' की घोषणा की और इस विचार की परिभाषा उसने इस प्रकार की "यह है आत्मा की महानता, इसका दैवत्व, आध्यात्मिक सादृश्य के आधार पर इसका ईश्वर में विलय, ईश्वरीय तत्व को ग्रहण करने की इसकी शक्ति, इसकी स्वयंभू प्रकृति, शाश्वत आनन्द-प्राप्ति का इसका ध्येय और इसका अमरत्व।"[६४] उसके लिए सांप्रदायिक संकीर्णता और धार्मिक अतिक्रमणता असंभव थी। उसकी भावनाओं तथा उपदेश ने इस आन्दोलन को प्रभावित किया और उन्हीं लोगों के द्वारा १८१६ में इस विश्वविद्यालय में 'डिविनिटी-स्कूल' की स्थापना हुई।

१८११ में चैनिंग ने लिखा कि सच्चा चर्च (ईसाई धर्म) वह है जिसमें "ईसा के मित्र तथा अनुयायी, जो अपने-आपको कुछ भी कहें, जो कहीं भी पूजा करते हों, उनकी निजी विशेषताएं जो कुछ भी हों, जो

---

[६२] नो क्रॉस, नो क्राउन।

[६३] विभिन्न धर्मों के गहरे अध्ययन के बाद मैक्समूलर ने घोषित किया: "संसार में केवल एक शाश्वत विश्व-धर्म है, जो अन्य सब धर्मों से ऊपर, नीचे और सबसे परे स्थित है। उसीमें सब समाहित हैं या हो सकते हैं।

[६४] जे. डब्ल्यू. चैडविक: विलियम एलरी चैनिंग (१९०३), पृष्ठ २४६

आकाश के नीचे कहीं भी रहते हों और जो कोई भी भाषा बोलते हों, किन्तु जिन्होंने वास्तविक धार्मिक भावना को ग्रहण कर लिया है।"

: १५ :

ईसाई धर्म की पहली चुनौती वह थी, जो उसे यूनान और रोम के सम्पर्क से मिली। सदियों तक प्रमुख ईसाई नेता इस चुनौती से निबटने में व्यस्त रहे और अन्त में ईसाई मत सफल और समृद्ध हुआ। दूसरी चुनौती आधुनिक युग में विज्ञान की प्रगति ने दी, जिसके द्वारा बाह्य और आन्तरिक विश्व की सार्वभौमिकता तथा एकता का प्रमाण मिला। इस संघर्ष के परिणामस्वरूप ईसाई विचारधारा में काफ़ी संशोधन हुआ। आज ईसाई धर्म के संबंध में लोगों के विचार जहां अधिक सच्चे और गहरे हैं, वहां अधिक युक्ति-संगत भी हैं। आज भी ईसाई धर्म को उन धर्मों से चुनौती मिल रही है, जो इसकी अपेक्षा अधिक व्यापक और विवेकपूर्ण हैं। ईसाई नेतागण इस समस्या को सुलझाने में फिर से लगे हैं। यहां इस विश्वविद्यालय में कई विद्वान ईसाई-इतर धर्मों के अभ्युदय से प्रभावित और प्रेरित हुए हैं।

जोसिया रायस, विलियम जेम्स, ए. एन. व्हाइटहेड, और डब्ल्यू. ई. हौकिंग, आदि महान दार्शनिक, जो इस विश्वविद्यालय में अध्यापक रहे, सबके-सब उदार धार्मिक विचारों के व्यक्ति थे। ईश्वर में उनके विश्वास का आधार उनकी व्यक्तिगत अनुभूतियां थीं। विलियम जेम्स कहते हैं, "अगर आप पूछें कि ये अनुभूतियां क्या हैं, तो मैं कहूंगा कि ये हैं अदृष्ट से वार्तालाप, ध्वनियां और दर्शन, प्रार्थना की प्रतिक्रिया, हृदय का परिवर्तन, भय से मुक्ति, बाह्य सहायता की भरमार और समर्थन के आश्वासन। जब कभी किसी भी व्यक्ति ने उचित ढंग से उचित दृष्टिकोण को अपनाया, उसे ये सब बातें प्राप्त हुईं।"[६५] अपनी प्रसिद्ध गिफर्ड भाषणमाला में विलियम जेम्स ने कहा था—"याद रखिए कि

---

६५ 'कलेक्टेड ऐसेज़ एण्ड रिव्यूज़' (१९२०)—पृष्ठ ४२८

महत्वपूर्ण और आधारभूत बात यह वास्तविक विश्वास है कि अपनी ओर से किसी प्रयत्न अथवा उत्कट इच्छा द्वारा आप असीम सत्ता से सहयोग करते हैं और उसके साथ एकरूप हैं। यही विश्वास ईसाई धर्म और वेदान्त का मूल मंत्र है।"[६६]

जोसिआ रायस ईसाई धर्म की समस्या को 'प्रत्येक व्यक्ति का समाज के साथ क्या सम्बन्ध है?' इसके प्रकाश में देखता है। समाज की कल्पना मानव के नैतिक टीकाकार के रूप में की गई है। विश्व-समाज के प्रति वफ़ादारी और सच्चा प्रेम अविभाज्य हैं। "प्रत्येक व्यक्ति, जो प्रेम करता है, ईश्वर से जन्म लेता है।"

जब ए. एन. व्हाइटहैड धर्म की परिभाषा इस प्रकार करते है कि "धर्म वह है जो कुछ व्यक्ति अपने एकान्त समय में करता है,"[६७] इसका अभिप्राय यही है कि धर्म एक आन्तरिक अनुभूति है। हम में यह क्षमता होनी चाहिए कि हम अपनी आत्मा को ऐसा सुदृढ़ बनाएं, जिससे

---

[६६] राल्फ बार्टन पैरी द्वारा लिखित—'दि थॉट एण्ड केरेक्टर ऑफ विलयम जेम्स' (१९४८), पृष्ठ २५९। स्वर्गीय डीन इन्ज ने कहा था—"जो दो हजार वर्ष पूर्व हुआ, उससे हमें अब कोई मतलब नहीं।" उसने प्लोटिनस की प्रशंसा की क्योंकि "उसका धर्म गहरा और आध्यात्मिक है, जो कुछ तो दार्शनिक विचार पर आधारित है और कुछ निजी गहरी अनुभूतियों पर। वह भूत या भविष्य की ऐतिहासिक घटनाओं से मुक्त है।"

'डीन इन्ज' : एडम फॉक्स

कैनन शेपर्ड अपनी 'दि इम्पेशन्स ऑफ ए परसन' में लिखते हैं कि यह विचार कि ईश्वर स्वयं कुछ व्यक्तियों के सामने ही प्रकट हुआ और दूसरों को उसने अंधेरे में छोड़ दिया, एक 'असह्य विचार' है। पृष्ठ १०७। कार्ल जास्पर्स कहता है कि 'अपने उद्देश्यों और परिणामों में यह दावा (अतिरिक्तता) मनुष्यों के लिए घातक है। हमें सत्य और अपनी आत्मा के लिए इस सांघातिक दावे का विरोध करना चाहिए।"

—'दि पिरेनिअल स्कोप ऑफ फिलॉसोफी' (१९५०) पृष्ठ-८८

[६७] 'रिलिजन इन दि मेकिंग' (१९२६) -पृष्ठ ६

हम शांतिपूर्वक इसकी विशुद्ध गहराइयों में शरण ले सकें। व्हाइटहैड की यह शिकायत है कि ईसाई धर्म के प्रवक्ता अनुभूति और संकल्पनाओं को एकरूप मानते हैं और इसके परिणाम भयंकर होते हैं। "आगस्टाइन से असीसीवासी फ्रांसिस तक ईसाई धर्म के सभी व्याख्याकारों में आप यही बात पाते हैं। उनके हृदय विकारहीन थे, किन्तु मस्तिष्क विकृत। उदाहरणार्थ संट फ्रांसिस की इस बात पर विश्वास कठिनाई से होता है कि करुणा और दया तथा अनन्त विनाश, ये शब्द एक ही मस्तिष्क से निकल सकते हैं। नवीनता के बहिष्कार और अपने सत्य के स्वयं निर्माण से इसी प्रकार के संकटजनक दुष्परिणाम निकल सकते हैं। यह कहना कि 'इस विषय पर जो कुछ ज्ञातव्य है, वह यही है और इससे आगे विवाद के लिए स्थान नहीं' इसके दुष्परिणाम भी कम भयानक नहीं।"[६८]

प्रो. विलियम अर्नेस्ट हाकिंग, जो सौभाग्य से अब भी हमारे बीच हैं, लिखते हैं—"पश्चिम के विभिन्न धर्म-निरपेक्ष आन्दोलनों के फलस्वरूप इसाई मत का जो आंशिक ह्रास (de-Christianisation) हो रहा है उससे पश्चिम को ही नहीं बल्कि पुनर्विचारित ईसाई धर्म को भी लाभ पहुंचेगा।"[६९] अन्य भूभागों में धार्मिक अनुभवों की व्यापकता तथा आधुनिक प्रवृत्ति की असंपूर्णता के कारण उनका मत है कि पुनर्विचार की प्रक्रिया की बराबर आवश्यकता है।[७०] "हमारे ईसाई धर्म को, पूर्व की आत्मा और इसके चिरकालीन आत्मानुशासन के अन्वेषण के साथ, अधिक गहरे और विनम्र अन्तर्मिलन की अपेक्षा है।"[७१]

: १६ :

आज जब मानव-समाज के सामने भयंकर संकट उपस्थित है

---

[६८] डायलॉग्स ऑफ अल्फ्रेड नॉर्थ व्हाइटहैड—पृष्ठ १७२

[६९] दि कमिंग वर्ल्ड सिविलिजेशन (१९२६), पृष्ठ १२

[७०] वही पृष्ठ १३६

[७१] ओप. सिट., पृष्ठ १६५

और हमारी सभ्यता डांवाडोल है, हमें खोये हुए मूलतत्वों को फिर से ढूंढना है और आश्चर्य तथा आदर की भावना को फिर से ग्रहण करना है, जो मानव-जीवन के बढ़ते हुए धर्म-निरपेक्षीकरण के कारण लुप्त होती जा रही हैं। महापुरुषों के कर्म तथा सूक्तियां संग्रहित वस्तुएं मात्र नहीं हैं, अपितु मानव के आधारभूत प्रश्नों के उत्तर हैं।

प्रत्येक धर्म में ऐसे लोग मिलते हैं, जो प्रान्तीयता से ऊपर हैं और जो इस बात पर ज़ोर देते हैं कि धर्म ऐसी अनुभूति है, जो आत्मविजय और आत्मपरिवर्तन, अन्य धर्मों के प्रति सद्भाव और विश्व-समाज के प्रति वफादारी से ही प्राप्त हो सकती है। यदि मानव को अपने लिए और विश्व के लिए संपूर्णता प्राप्त करनी है, यदि उसे समन्वयात्मक जीवन की खोज है, तो उसे अन्य धर्मों का ज्ञान अवश्य प्राप्त करना चाहिए। भूगोल और इतिहास की घटनाओं से पैदा हुए मतभेदों की हमें अवहेलना करनी चाहिए और मानव की सामान्य विरासत द्वारा दिये गए सार्वभौम विचारों को ग्रहण करना चाहिए। अमेरिका अथवा यूरोप के एक विद्यार्थी के लिए पूर्व की चीनी, जापानी और भारतीय सभ्यताओं को जानना ऐसी ही साधारण बात होनी चाहिए, जैसी इस समय यूरोप की सभ्यता को समझने के लिए उसके लिए यूनानी, रोमन और यहूदी संस्कृतियों का जानना आवश्यक है।

विभिन्न धर्मों को हमें एक सामूहिक प्रयास में सहयोगी मानना चाहिए और वह सहयोगी प्रयास है लोगों में शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व, अन्तर्राष्ट्रीय कल्याण और न्याय, जातीय समानता, और सब राष्ट्रों की राजनीतिक स्वाधीनता आदि की सामान्य समस्याओं से जूझना।

धार्मिक जीवन के विभिन्न रूपों का अध्ययन हमें मानव-जीवन के लिए सारगर्भित धार्मिक विचार दे सकता है। विभिन्न धर्मों का उपयोग निर्माण-शिलाओं के रूप में होना चाहिए, जिससे ऐसी मानव-सभ्यता का भवन खड़ा हो सकें, जिसमें सब धर्मों के अनुयायी भ्रातृभाव से एक ईश्वर के बच्चों के समान एकत्र हो सकें। सब धर्म अपने अनुयायियों को शाश्वत आशा का संदेश देते हैं। संसार एक ऐसे धर्मसूत्र को जन्म देगा

जो वास्तव में एक नए रूप में पुराना धर्म ही होगा, जो सर्वकालीन धर्म होगा। वह धर्म है मानव का संभाव्य देवत्व। उसका उद्देश्य मानव-समाज की एकता होगा, जो प्रत्येक व्यक्ति के हृदय और आत्मा पर अंकित होगा। मेरी यह आशा और प्रार्थना है कि विश्वधर्मों के अध्ययन के लिए स्थापित इस केन्द्र में अनास्था विलुप्त हो जाएगी और अन्धविश्वास मानव को दास नहीं बना सकेगा। जो लोग यहां एकत्र होंगे, वे यह समझेंगे कि सभी मनुष्य भावना और साहचर्य से एक हैं तथा एक दूसरे के भाई-भाई हैं।

विशिष्ट नामावली

य

र

ल

व

श

स